वती कथा
१२
लेखक
श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

श्री भागवत-दर्शन

भागवती कथा

(पञ्चदश खण्ड)

★

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक
श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक
संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
(झूसी) प्रयाग

चतुर्थ संस्करण
१००० प्रति

भाद्रपद्र कृष्ण २०२९
अगस्त १९७२

मूल्य—१.६५

मुद्रक-बंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग ।

विषय-सूची

Bishnu Das Malv.
Pin. 742133.

निज दोष कथन

(भूमिका)

यथा वार्तादयो ह्यर्था योगस्यार्थं न बिभ्रति ।
अनर्थाय भवेयुस्ते पूर्तमिष्टं तथासतः ॥
यश्चित्तविजये यत्तः स्यान्निःसङ्गोऽपरिग्रहः ।
एको विविक्तशरणो भिक्षुर्भिक्षामिताशनः ॥*

(श्रीभा० ७ स्क० १५ अ० २९, ३० श्लोक)

छप्पय

बेड़ी होवै लोह रजत वा शुद्ध कनक की ।
बन्धन होंहि समान दशा यह पाप पुन्य की ॥
चाहें जप तप करो वासना भोग न छूटे ।
भरे पेट ही वृत्ति चले जग बन्धन टूटे ॥
वृत्ति कपोती धारिकें, त्यागि परिग्रह सकल जब ।
यथा लाभ सन्तुष्ट ह्वै, रहे परम पद लहे तब ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! धर्मराज के पूछने पर नारद जी कह रहे हैं—"धर्मराज ! देखो, जिस प्रकार वाणिज्य कृषि आदि कार्य मोक्ष के साधक न होकर अनर्थ रूप संसार की ही वृद्धि करते हैं। उसी प्रकार असत् पुरुषों के इष्ट पूर्तादि कर्म बन्धन के ही हेतु होते हैं। जिसे चित्त विजय की इच्छा हो, वह परिग्रह और सर्व अङ्गों का परित्याग करके एकांत प्रदेश में एकाकी ही निवास करे, भिक्षा वृत्ति से प्राप्त अन्न का स्वल्प आहार करे।"

सुवर्ण से यदि आप भूसा तोलें, तो वह मना न करेगा, तुल तो जायेगा ही, किन्तु यह उसका दुरुपयोग है। उसका सदुपयोग तो आभूषण बनाकर अङ्गों में धारण करने में ही है। मणि मुक्ता नीलम आदि बहुमूल्य रत्नों को शौचालय के छिद्र में जड़ दिये जायँ, तो वे मना न करेंगे, वहाँ भी चमकेंगे ही, किन्तु यह उनका दुरुपयोग है। उनकी शोभा तो मुकुट कुण्डल आदि आभूषणों में ही है। इसी प्रकार मौन, व्रत, श्रुत, तप, अध्ययन व्याख्या, एकांतवास, स्वधर्म पालन, मन्त्र जप तथा समाधि ये सब मोक्ष के साधन हैं। इनका उपयोग मोक्ष धर्मावलम्बी जितेन्द्रिय करे, तो वही इनके द्वारा मोक्ष प्राप्त कर सकता है। हमारे जैसे अजितेन्द्रिय उनका आश्रय लेते हैं, तो केवल इनसे आजीविका चल सकती है। "ब्रह्मचारीजी २० वर्ष से मौन हैं, नित्य जप करते हैं, पाठ करते हैं आदि-आदि। इनकी कुछ सहायता कर दो, इनके उपयोग की वस्तुएँ इनके आश्रम पर पहुँचा दो।" यही आजीविका है। सुवर्ण का उपयोग भूसा तोलने में है। जब तक मन से विषय वासना नहीं हटती तब तक शुभ कर्म भी बन्धन के ही कारण हैं। वह बन्धन चाहे मूँज की रस्सी का हो या रेशम की डोरी का। वेड़ी चाहे लोहे की हो या सुवर्ण की, समान ही बन्धन कारक हैं।

एक सम्माननीय बन्धु ने सूचित किया। सर्वप्रथम "भागवती कथा" पाते ही आप का प्राक्कथन पढ़ते हैं। उसमें हमें अत्यधिक आनन्द आता है, किन्तु एक बात खलती है। आप बार-बार अपने दोष दिखाते हैं। ऐसी-ऐसी बात लिखते हैं, कि पाठकों को आप पर अश्रद्धा हो जाय। यद्यपि हमारी अश्रद्धा तो होने की नहीं, किन्तु जो नहीं जानते हैं उन पर क्या प्रभाव पड़ेगा? कृपा करके अपनी बुराई लिखना बन्द कीजिए। यदि आप

वास्तव में ऐसा अनुभव करते हैं, तो इन्हें लिखकर प्रकाशित करने की क्या आवश्यकता ?"

मेरे सम्माननीय बन्धु ने स्वयं अपनी ओर से यह नहीं लिखा है। उनका कथन है, मैं बहुत भक्तों की ओर से लिख रहा हूँ। बहुतों का प्रतिनिधित्व कर रहा हूँ, यह बात लिखी है। श्रद्धा की बात तो ऐसी है, कि जिनकी जिन पर श्रद्धा है, वे चाहें नंगे नाचें, अनुचित कार्य करें उसे भी वे "उनकी लीला है, वे सर्व समर्थ है" कह कर टाल देंगे। जिनकी श्रद्धा ही नहीं है, उनके सामने साक्षात् भगवान् भी उतर आवें उनकी भी आलोचना करेंगे। उन्हें भी भला बुरा कहेंगे। रही दोष दिखाने की बात सो, मैं जैसा अपने में अनुभव करता हूँ वैसा लिखता हूँ। वैसे मैं कोई बुरा काम तो करता ही नहीं। कथा, कीर्तन लेखन, गंगा स्नान, तीर्थ सेवन, यथाशक्ति जनता जनार्दन की सेवा ये सब अच्छे कार्य हैं, इनसे दूसरों का भला ही होता है, किन्तु जीवन का लक्ष्य इतना ही तो नहीं है। अच्छा बुरा दोनों ही बन्धन है। धर्म, अधर्म, सत्य-असत्य इन दोनों से ही ऊपर उठकर निर्द्वन्द स्थिति प्राप्त करना ही तो मुख्य उद्देश्य है। एकमात्र भगवत् कैंकर्य हो, अन्य बातें, अन्य भावनायें, अन्य उद्देश्य मन में भी न आवें। जितेन्द्रियों के लिये जो साधन भवबन्धन काटने वाले हैं। वे ही अजितेन्द्रियों के लिये संसार चक्र को और सुदृढ़ करने वाले हैं। अपने जीवन का जो वास्तविक उद्देश्य अनन्य शरणागति—अच्छे बुरे का भेदभाव ही मिटा देना—वह होता हुआ नहीं दीखता यही मनस्ताप है, यही आत्मग्लानि का कारण है। इसी को बार-बार स्मरण करके विचारते हैं। यथार्थ मार्ग से च्युत तो नहीं हो रहे हैं। अपरिग्रह व्रत को त्यागकर परिग्रह की ओर तो मन की प्रवृत्ति नहीं हो रही है। इसी का रोना है।

"अच्छा, तो फिर उसका ढिंढोरा क्यों पीटना ? उसे प्रकाशित

करने से क्या लाभ ? दूसरों के लिये दुर्बल उदाहरण उपस्थित करना है, कि जब इतने संयम नियम से रहने वालों की यह दुर्दशा है, तो हम लोगों से कोई अनुचित कार्य हो जाता है तो कोई दोष की बात नहीं, यह तो स्वार्थ का अर्थ है, स्वार्थी लोग तो सबमें अपने अनुकूल अर्थ निकाल लेते हैं। वे यह अर्थ क्यों नहीं निकालते, कि इन्द्रियनिग्रह अत्यन्त कठिन है हमें दृढ़ता से-तत्परता से-इन्द्रियों आदि पर विजय प्राप्त करके जिस पापी काम ने हमारे ज्ञान-विज्ञान का नाश कर दिया है, उस पर विजय प्राप्त करके कटिबद्ध हो जाना चाहिये।"

यदि ऐसी बात होती, तो भगवान् के अवतार सर्वज्ञ वेद व्यास सभी राजर्षि ब्रह्मर्षियों की दुर्बलताओं को क्यों बताते। क्यों अपनी उत्पत्ति को स्पष्ट शब्दों में कहते। अरणी द्वारा अप्सरा दर्शन से शुक्रपात द्वारा श्रीशुक उत्पत्ति को क्यों बताते। दोष दर्शन ही तो दोषों के परिमार्जन का साधन है उद्देश्य को सदा याद रखो, किये हुए का स्मरण करो। "कृतं-स्मर, कृतंस्मर" यही वेदों का डिंडिम है। लिखना इसलिये पड़ता है, कि इसमें बहुतों को उत्तर देने में सुगमता होती है। कुछ लोगों की छिद्रान्वेषण की, परदोष दर्शन की, परपवाद, पर निन्दा करने की जन्म जाति प्रवृत्ति होती है। जैसे अफीमची को बिना अफीम खाये चैन नहीं पड़ता वैसे ही ऐसे लोगों को बिना निन्दा किये चैन नहीं होता। जैसे कितना भी सुन्दर शरीर हो उसमें जहाँ भी तनिक व्रण होगा, पीव होगा, मक्खी सूँघ कर वहीं जाकर बैठेगी। इसी प्रकार इन छिद्रान्वेषी महानुभावों की दृष्टि इतनी पैनी होती है, कि छिद्र न होने पर भी इन्हें छिद्र दीखेगा। यदि राई के बराबर हुआ तो भी इन्हें पहाड़-सा प्रतीत होगा। उनसे वाद-विवाद करो, तो उन्हें और भी प्रोत्साहन मिलेगा। अतः इनके सम्मुख स्वीकृत ही एक

उपाय है। समझाने से ये समय तो व्यर्थ नष्ट करेंगे ही किन्तु इन्हें चतुर्मुख ब्रह्मा भी आकर समझाना चाहें तो नहीं समझा सकते अकारण, बिना सम्बन्ध के ये लोग सम्बन्ध स्थापित करते हैं। बिना अग्नि के जलते रहते हैं। जिसमें दृढ़ निश्चय है, ब्रह्मचारी जी व्यापारी बन गये हैं। उन्हें कैसे समझावें व्यापार तो है ही, बन तो गये ही हैं। अब इसमें लाभ हो या हानि इससे उन्हें क्या प्रयोजन ? उन्हें तो कोई बात मिलनी चाहिये। मुझे लोग ब्रह्मचारी कहते हैं मेरा नाम ही पड़ गया है, किन्तु उसके स्थान में मिथ्याचारी होता तो सोलहों आने उपयुक्त बैठता। क्योंकि भगवान् ने मिथ्याचारी की व्याख्या यह की है—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आदते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।

'जो कर्मेन्द्रियों का तो बाहर से संयम रखता है, किन्तु मन से सदा विषयों का चिन्तन करता रहता है, उस विमूढात्मा को मिथ्याचारी बताया गया है।' मेरे में यह सर्वथा उतरता है। जहाँ स्वभाव जन्म से हठ ही है,वहाँ विवाद व्यर्थ है। अपने जीवन में ऐसे कई उदाहरण मेरे सम्मुख आये हैं। अलीगढ़ में एक संकीर्तन का बड़ा भारी महोत्सव हुआ। उसकी सेवा का भार मुझ पर भी था। मेरे समीप ही एक एम० ए० पास अध्यापक ठहरे थे वे प्रसिद्ध उपदेशक हैं। एक आर्यसमाजी सज्जन आकर उनसे वाद विवाद करने लगे मेरा उनसे घर का सम्बन्ध था। मैं तो उनकी प्रकृति से परिचित था। उपदेशक महाशय ने उन्हें अपना पक्ष बहुत समझाया किन्तु वे तो चिकने घड़े थे। उन पर बूँद क्यों रुकने लगी। उपदेशक सरल थे। रोने लगे, मैं पहुँच गया। मैंने कहा—"हाँ मुझसे कहिये, उन्होंने अपनी तर्क कही। हममें जो दोष थे उन्हें बताया उनका परिणाम बताया। मैंने कहा—"हाँ, ऐसा हो तो सकता है वे समझ गये मेरी बात।

बोले—"अब आप टालमटोल कर रहे हैं। शास्त्रार्थ का यह नियम नहीं। हमारी तर्कों का उत्तर दो। मैंने कहा अजी, आपको कौन उत्तर दे सकता है।" बस वे चलते बने।

ऐसा ही एक प्रसङ्ग अभी और आया। हम लोग बंगाल के बहरामपुर के एक उत्सव से लौट रहे थे। कलकत्ते में हमारे परिचितों ने तुरन्त ही प्रयाग के लिये दो द्वितीय श्रेणी के शयन स्थान रेल में अतिरिक्त करा दिये। जिस डिब्बे में हमारी सीट थी संयोग की बात उसी में हमारे एक परिचित बन्धु बङ्गाली वकील की भी सीट थी। सम्पूर्ण डिब्बे में चार ही सीटें थीं, दो नीचे दो ऊपर। हम जब पहुँचे तब हमारे वे बङ्गाली बन्धु एक अंग्रेज दम्पति से लड़ रहे थे। बात यह थी हमारे पहुँचने में देरी हुई, उन अंग्रेज पति-पत्नी ने हमारी दोनों सीटों पर अधिकार स्थापित कर लिया। हमारा उस पर नाम लिखा था। बङ्गाली वकील ने उसे पढ़ लिया और अधिकारियों से कह सुन कर उन्हें निकलवाया। वे अपना समान उठा ही रहे थे, कि हम पहुँच गये। यात्रा में हम लोग दस पाँच आदमी सदा रहते हैं। एक या दो द्वितीय श्रेणी की टिकटें लेकर सामान सब उसमें रख लेते हैं शेष सब इधर उधर जहाँ चाहें बैठें। हमारे साथ एक सम्माननीय बन्धु थे। या यों कहिये हम सब उनके साथ थे। उनका नाम तो यहाँ लूँगा नहीं, किन्तु उनका इतना ही परिचय पर्याप्त है, कि वे एक विशिष्ट सम्प्रदाय के आचार्य हैं। बड़े सरल, बड़े मिलनसार तथा पढ़े-लिखे हैं। व्याख्यान देने में बड़े पटु हैं। यदि स्वच्छ धुले कपड़े वाले नागरिक उनके सामने कोई जिज्ञासा करें, तो वे बड़ी तत्परता से समझाते हैं। भरी सभा में उनका उत्साह द्विगुणित हो जाता है यदि उन्हें कोई सभापति बना दे, तब देखो उनके पैंतरे। वे ही वे दिखाई देंगे। संकेत में हम उन्हें आचार्य जी कहेंगे।

हाँ तो हमने दौड़कर डिब्बे में अपना सामान भरना आरम्भ किया। ऊपर की सीट से सूट-बूट पहने एक गोरा-सा सुन्दर-सा पंजाबी छरहरा युवक उतरा, उसने आते ही पचासों बातें कहनी आरम्भ कर दी। इतना समान भर दिया है, मालगाड़ी बना रखी है, दूसरे डिब्बे में ले जाओ और न जाने क्या-क्या कहा परन्तु उनकी बात पर ध्यान कौन देता है। सामान सब भर दिया गया। नीचे की सीट पर आचार्य जी ने बिस्तर लगाया, उनके ऊपर की पर मेरा लगा। दूसरी नीचे की सीट पर बङ्गाली वकील और ऊपर की पर वे ही पंजाबी युवक वकील, हम चार ही आदमी थे। गाड़ी चल दी। अब वह पंजाबी युवक ऊपर से उतरा और आचार्यजी के चरणों के समीप जा बैठा। सुन्दर गोरा शरीर, शुभ्र स्वच्छ धुले कपड़े, पढ़ा लिखा आदमी, उसे जिज्ञासु समझकर हमारे आचार्य जी के रोम-रोम खिल उठे। रेल में इन्हें ऐसा कोई बात करने को मिल जाय, तो फिर पूछना ही क्या। उसने आकर आचार्यजी से पूछा—"आप कौन हैं?"

आचार्यजी ने कहा—"भाई हम तो साधु हैं।"

उसने छूटते ही पूछा—"आपका विवाह हुआ या नहीं?"

आचार्य जी यह प्रश्न सुनने को उद्यत नहीं थे। यह उनका एक प्रकार से अपमान था। किन्तु वे दो दङ्गलों के खेले हुए थे उन्होंने समझा यह अंग्रेजी पढ़ा लिखा है। इसे इतनी योग्यता नहीं कि साधु से ऐसा प्रश्न करना चाहिये। अतः बड़ी सरलता से उत्तर दिया—"नहीं भाई! हमारा विवाह तो नहीं हुआ।"

उसने पूछा—"क्यों नहीं हुआ?"

ऊपर से जब मैंने ये प्रश्नोत्तर सुने, तो मेरे कान खड़े हुए। मैं भी कान नीचे करके सुनने लगा। आचार्य जी इस प्रसंग को समाप्त करके दूसरा प्रसङ्ग चलाना चाहते थे, अतः बात टालने

को बोले—"अरे, भाई ! हम लोगों का विवाह कौन करता है, वैसे ही दिन काट रहे हैं।"

उसने कहा—"नहीं, आप को विवाह करना चाहिये।" आचार्य जी ने बल देकर कहा—"कैसे करें, भाई ?"

उसने कहा—"कैसे क्या करो, कोई कुमारी नहीं मिले, तो किसी विधवा के ही साथ कर लो।"

आचार्यजी यह सुनने को तैयार नहीं थे। अब वे समझ गये कि यह कोई लफङ्गा है, जिज्ञासु नहीं। उनकी आँखें लाल हो गईं, फिर भी उन्होंने अपने को सम्हाला। ऊपर मेरी बुरी दशा थी। हँसते-हँसते पेट फटा जाता था। यह तो अच्छी बात थी, गाड़ी चल रही थी इससे मेरे हँसने का शब्द सुनाई नहीं देता था। यदि मैं नीचे होता, तो निश्चय ही सब क्रोध मेरे ऊपर उतरता और वे समझते इसी के कहने से यह ऐसे प्रश्न पूछ रहा है। उससे कैसे लड़ते। इसलिये चद्दर ओढ़कर लेटते हुए बोले—"विधवा भी मिले तब न ?"

उसने कहा—"न मिले विधवा तो लँगड़ी से कर लो, किसी अन्धी से ही कर लो।"

अब मुझसे ऊपर न रहा गया, हँसते-हँसते नीचे उतर आया। बंगाली बाबू ने भी मेरी हँसी में योग दिया। मैंने कहा—"हाँ, आचार्यजी ! अवश्य कर लो।" अब क्या था टूट पड़े ऊपर। उस पंजाबी ने देखा बात बहुत बढ़ गई, तो उसने मुझसे बातें आरम्भ की मैं तो उसकी गति विधि पहिले ही पहिचान गया था। अतः मैंने कहा—"भाई, मैं तो साधु फाधु हूँ नहीं, मैं तो लेखक हूँ, लिखने से मुझे अवकाश ही नहीं कि मैं विवाह करूँ, मुझे महाकवि वाचस्पति मिश्र की कथा स्मरण थी, कि उनकी पत्नी नित्य दूध पिला जाती थी, एक दिन रात्रि भर खड़ी रही, कवि को दूध पीने की याद ही नहीं, अपनी लेखन कला में भूल

गये थे। प्रातः उसे खड़ी देखा, पूछा—"तू कौन है ?" उसने बताया मैं आपकी पत्नी हूँ।" कवि तो दूसरे लोक में रहता ही है इतने दिन साथ रहने पर भी स्त्री से उनका परिचय भी नहीं हुआ, कवि उसकी भक्ति पर प्रसन्न हुए पूछा—"अच्छा क्या चाहती हो।"

उसने कहा—"मैं एक वंश का नाम चलाने को वंशधर चाहती हूँ।"

कवि ने कहा—"पुत्रों से कहीं नाम चलता है, अयोग्य हुए, सन्तान ही न हुई, होकर मर गये। ले, मैं इस टीका को तेरे नाम से ही बनाकर तुझे अजर अमर किये देता हूँ, यह कह कर उन्होंने उस ब्रह्मसूत्र की उस टीका का नाम उसी के नाम से रखा, जो अब तक संस्कृत साहित्य में 'भामती' के नाम से उसके नाम को अजर अमर बनाये हुए है और भविष्य में भी बनाये रहेगी।" इसलिये मैंने उससे कहा—"मुझे तो क्षण भर का भी अवकाश नहीं।" यह बात उसने मान ली, वाद विवाद समाप्त हुआ, प्रेम की बातें हुईं, प्रेमी बन गया, हमारे साथ आया, कुटी पर रहा, अब भी कभी-कभी आता है। कहने का तात्पर्य इतना ही है, कि आलोचकों का विवाद तभी समाप्त होता है जब अपनी दुर्बलताओं को स्वीकार कर लें। इससे पाठक यह न समझें, कि केवल आलोचकों का मुख बन्द करने के लिये ही मैं ऐसी बातें लिखता हूँ, वास्तव में ये बातें मुझमें हैं नहीं। वास्तव में जो त्रुटियाँ मुझमें हैं उन्हें ही मैं लिखता हूँ सो भी बहुत संकेत से, अल्प मात्रा में—लिखता हूँ, किन्तु लिख देने से मेरे बहुत से समय की बचत हो जाती है, जो आजकल मेरे लिये अत्यन्त ही अमूल्य है। इस समयाभाव के कारण ही बहुत से दर्शनार्थी मुझसे असन्तुष्ट हो ज़ाते हैं। उन सबसे प्रार्थना है, शरीर तो मेरा देखने के योग्य नहीं, काला, कलूटा, रूखे सूखे

चाल, बालक देखें तो डर जायँ। कटरा में एक परिचित के घर गया, उनकी गौ मेरी सूरत को देखकर ऐसी डरी, कि उसने दूध देना ही बन्द कर दिया। बच्चों को बुलाओ तो वे रोने लगते हैं। अँधेरे में कोई देखे तो भूत का भ्रम हो जाय। इसलिये शरीर को देखने की उत्सुकता को छोड़कर वे भागवती कथा को देखें। भगवत दर्शन में भक्तों के भगवान् के सभी के दर्शन हैं। मनुष्य दोषों की खान है, दोषों का होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है, न होना ही आश्चर्य है। इसमें वही धन्य है, वही माननीय है, जिसे भक्त और भगवान् के चरित्रों में अनुराग हो, कथा कीर्तन में प्रेम हो मैंने ये दोनों आजीविका के साधन बना रखे हैं। नाम के सहारे उदर भर रहा हूँ। मनुष्य स्वभाव है अपने दुःख को प्रेमियों के सम्मुख कहने से हृदय हलका हो जाता है, दुख बँट जाता है इसी के लिए प्रसंगानुसार भागवती कथा के साथ-साथ, आत्म कथा भी कहता जाता हूँ उसका अपना रोना भी रो लेता हूँ। सब पाठक कृपा करेंगे सब आशीर्वाद देंगे तो सम्भव है अपने निर्दिष्ट पथ की ओर अग्रसर हो सकूँ, व्यापार को भगवत सेवा ही अनुभव कर सकूँ, ऐसा हो जाय तब तो त्याग, ग्रहण अच्छे, बुरे का प्रश्न ही नहीं उठता। फिर तो यह हो जाय—यत् यत कर्म करोमि तत् तदखिलं शम्भो ! तवाराधनम्।

अब यह प्रश्न उठता है कि नाम जप करने पर भी दोष क्यों रह जाते हैं ? तब तो नाम जप भगवन्नाम संकीर्तन व्यर्थ ही है।" नाम जप तो कभी व्यर्थ होता ही नहीं, कहना चाहिये नाम जप से निज दोष दर्शन शक्ति आती है। वैसे तो एक नाम संसार बन्धन काटने में समर्थ है, किन्तु वैसा नाम हम ले नहीं सकते। हम तो भाव, कुभाव, अनख, आलस, अनिच्छा पूर्वक, स्वार्थवश, सांकेत्य या हेला वश लेते हैं। वह व्यर्थ नहीं जाता।

देखिए अजामिल कितना बड़ा पापी था। पुत्र के नाम के मिस से उसने नारायण नाम का कीर्तन किया, उसका फल यह हुआ उसे अपने दोषों का दर्शन हुआ। वह रोकर चिल्ला उठा।

क्वचाहं कितवः पापो ब्रह्मघ्न निरपत्रपः।
क्वच नारायणेत्येतद् भगवन्नाम मङ्गलम्॥
सोऽहं तथा पतिष्यामि यतचित्तेन्द्रिया निलः।
यथा न भूय आत्मानमन्धे तमसि मज्ज ये॥

अजामिल कर रहा है "अहो! कहाँ तो मैं धूर्त, निर्लज्ज पापी और ब्रह्म तेज को नष्ट करने वाला नीच! और कहाँ परम मङ्गलमय भगवान् का "नारायण" नाम! मैं ठगा गया। कोई बात नहीं अब मैं अपने मन, इन्द्रिय और प्राणों को वशीभूत करके ऐसा प्रयत्न करूँगा, जिससे पुनः अपने को अन्धतम नरक में न गिरा सकूँ। इस प्रकार अनुताप के प्रभाव से ही अजामिल को परमपद की प्राप्ति हुई। इस खण्ड से भगवन्नाम माहात्म्य सूचक अजामिल के पुण्य चरित्र को पाठक पढ़ेंगे ही। यह प्रसङ्ग कई खण्डों में जायगा। यदि निज दोष दर्शन के साथ हार्दिक अनुताप हो, तब तो उचित भी है और यदि यह केवल मात्र विज्ञापन ही है, लोगों पर अपनी सत्यता-स्पष्ट वादिता-की धाक जमाने के लिए है यह भी दम्भ है, असत्य है व्यापार है, प्रतिष्ठा प्राप्त करने का एक उपाय है। इसलिए पाठक आशीर्वाद दें कि हृदय में अनुताप हो, दोषों के प्रति हार्दिक घृणा हो और चित्त श्यामसुन्दर की प्राप्ति के लिए तड़पता रहे। यही जीवन का लक्ष्य है, यही काष्ठा है, यही परागति है।

संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग)
अषाढ़ कृ० १०, सं० २००५ } प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

राजा रहूगण के व्यंग वचनों का भरतजी द्वारा उत्तर

[३३४]

विशेषबुद्धेर्विवरं मनाक् च
पश्याम यन्न व्यहारतोऽन्यत् ।
क ईश्वरस्तत्र किमीशितव्यम्,
तथापि राजन् करवाम किं ते ॥*
(श्री भा० ५ स्क० १० अ० १२ श्लो०)

छप्पय

हँसि के बोले—भरत कौन मोटो को पतरो ।
को है स्वामी भूप कौन है सेवक तुम्हरो ॥
राजा है तू आज काल्ह भिक्षुक बनि जावै ।
इतने पैऊ मोइ नृपति उन्मत्त बतावै ॥
इच्छा, भय, तृष्णा, जरा, निद्रा तन्द्रा जागनो ।
आत्म रूप मोमें नहीं, पतरो अरु मोटोपनो ॥

---

* श्रीशुक कहते हैं—"राजन् ! जब रहूगण ने बार-बार अपने को राजा कहा, तब जड़भरत जी कहने लगे—"राजन् ! यह प्रजा है मैं राजा हूं ऐसी भेदबुद्धि के लिये व्यवहार के अन्यत्र तत्वत: कहीं भी तनिक अवकाश दिखाई नहीं देता । नहीं तो महाराज कौन स्वामी और कौन सेवक, फिर भी तुम्हें स्वामित्व का अभिमान है ही, तो कहिये मैं तुम्हारी कौन सी सेवा करूं ?"

शरीर रहते क्रोध सबको थोड़ा बहुत आ ही जाता है, अंतर इतना ही है, कि पशु बुद्धि वाले मूर्ख क्रोध के वशीभूत होकर अपने आप को भूल जाते हैं, विवेकी पुरुष क्षण भर में ही सम्हल जाते हैं। पलभर में ही उन्हें अपनी भूल मालूम पड़ जाती है, वे बात को बना लेते हैं, आगे बढ़ने नहीं देते। प्रसङ्ग को बदल देते हैं। उनके मन में बदले की भावना नहीं आती, अपनी भूल स्वीकार करने में भी उन्हें संकोच नहीं होता। यही महत् पुरुषों की महत्ता का चिन्ह है।

श्रीशुक कहते हैं—"राजन्! महाराज रहूगण को भरतजी के अंड-संड व्यवहार के कारण क्रोध आ गया। राजापने के अभिमान ने उनके विवेक को दबा दिया। वे बहुत-सी अनाप शनाप बातें बक गये। कोई ज्ञान का अनाधिकारी कह जाता, तो भरतजी बुरा भी न मानते। सब सह लेते, मार भी देता तो भी न बोलते, किन्तु यह तो ज्ञान का अधिकारी है, संयोगवश इससे भेंट हो गई है। क्यों न इसके संशयों का छेदन कर दूँ, क्यों न इसके भ्रम का नाश कर दूँ। राजा के प्रारब्ध-वश ऐसी प्रेरणा उन निःसङ्ग गूढ़ ज्ञान वाले छिपे महायोगी के हृदय में स्वतः ही हो गई। अतः राजा के ऐसे क्रोध भरे बचनों को सुनकर उन्होंने पालकी का डंडा अपनी थामने की लकड़ी पर रख दिया, मुड़कर राजा की ओर खड़े हो गये और बिना क्रोध किये हँसते हुए निर्भीक होकर मेघ गम्भीर वाणी से राजा को सम्बोधित करते हुए कहने लगे—"देखिये राजन्! आपने बातें कहीं। पहिले तो आपने मुझे बोझ ढोने के कारण थका बताया, दूसरे कहा तू मोटा नहीं है, तीसरे कहा तू जीते ही अपनी मृत्यु बुलाना चाहता है, चौथे कि तू सेवक होकर मुझ स्वामी का अपमान करता है मेरी आज्ञा नहीं मानता। पाँचवे आपने कहा—"तू प्रमादी है, पागल है, मैं तेरी चिकित्सा करूँगा,

यमराज के समान दण्ड दूँगा। ये पाँच बातें आपने व्यंग से मुझे लक्ष्य करके कही हैं। अब आप इन पाँचों का उत्तर सुनिये।"

सिन्धु सौवीरदेश के इतने प्रभावशाली राजा के सम्मुख कहार को उत्तर देते देखकर सभी कहार डर गये। वे सोचने लगे—"इस मूर्ख ने तो सब गुड़ गोबर ही कर दिया। इस आलसी के पीछे आज हम सब पर डंडे पड़ेंगे। सभी कहार इसी की अविनय के कारण दण्ड के भागी होंगे। आगे जो एक बूढ़ा-सा बुद्धिमान् कहार लगा था, वह भरतजी को वार-वार टोंच रहा था और धीरे-धीरे कह रहा था—"अरे, चुप रह मूर्ख, राजा की बातों का उत्तर नहीं देते, बड़े लोग जो भी कहें उसे चुपचाप सह लेना चाहिये। किन्तु भरतजी की दृष्टि में तो कोई न बड़ा था, न छोटा, वे तो सबमें समभाव स्थापित कर चुके थे। पालकी को खड़ा देखकर पीछे के भृत्य दौड़े आये, आगे के सवार लौट पड़े कहारों के कुलपति (दरोगा) ने आते ही कहार को राजा के सम्मुख उत्तर देते हुए देखकर बिना कुछ पूँछे डण्डा उठाया। राजा ने उन सबको रोककर कुतूहल वश कहा—"हाँ भैया कह, क्या कहता है तू ?"

भरतजी निर्भय होकर बोले—"सुनिये राजन्! आपने जो भी कुछ कहा है, सब व्यंग से कहा है, किन्तु मैं उसे व्यंग नहीं मानता सत्य ही मानता हूँ। आपने कहा—"तू बहुत थक गया होगा, बड़ी दूर से बोझ ढोकर लाया है।" सो राजन् मैं न तो बोझ ढोकर लाया हूँ न मैं थका ही हूँ। थकना आदि ये तो शरीर के धर्म हैं। मैं शरीर तो हूँ नहीं मैं तो आत्मा हूँ, आत्मा में न थकान है न ग्लानि वह तो नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त और दुःखों से सर्वथा पृथक् है।

अब रही यह बात कि तू मोटा नहीं है। तो मैं कहता हूँ हे नरनाथ! मैं दुबला भी नहीं, मोटा भी नहीं, भूखा भी नहीं,

प्यासा भी नहीं थका भी नहीं, सोता भी नहीं जागता भी नहीं। क्योंकि मोटापन, पतलापन आधि व्याधि का होना, क्षुधा, तृषा, भय, कलह, इच्छा जरा, निद्रा, प्रेम, क्रोध, अभिमान, सुख, दुःख, चिन्ता उद्वेग आदि इन सब वृत्तियों का सम्बन्ध शरीर से है मुझ आत्मा से इन बातों का क्या सम्बन्ध ? सो राजन् ! आप मोटा कहिये, दुबला कहिये, पतला कहिये, इस शरीर को कहते रहें, मुझे इन बातों से क्या प्रयोजन ? जो देहाभिमान के साथ उत्पन्न होते हैं और इस अनित्य शरीर को ही आत्मा समझते हैं, वे इन भावों का अपने में भले ही आरोप करलें मुझसे तो इनका लेश मात्र भी सम्बन्ध नहीं।

अब रही तुम्हारे भय की बात, कि तू जीता ही मरना चाहता है सो, ऐ पालकी वाले राजन् ! मुझे आप कोई एक ऐसा विकारी पदार्थ बता दें जिसका आदि तो हो और अंत न हुआ हो। जो उत्पन्न हुआ है उसका विनाश अवश्यम्भावी है। जो जनमा है वह मरेगा। जन्म और मृत्यु ये दोनों बातें नियमित रूप से सभी संसारी पदार्थों में प्रत्यक्ष देखी जाती हैं। यदि मेरा—आत्मा का—जन्म हुआ होता तो मृत्यु भी अवश्य होता, किन्तु महिलापाल मैं तो जीवन मरण दोनों से रहित हूँ।

अच्छा अब आप मुझ पर दोष लगाते हैं, तू सेवक होकर मुझ स्वामी की आज्ञा का पालन नहीं करता। तो मैं पूछता हूँ, आप अप्रसन्न न हों आपको स्वामी बनाया किसने। आपके माथे पर लिखा है कि आप स्वामी हैं, राजा हैं, चक्रवर्ती हैं ? स्वामी सेवक का भाव तो द्वैत में होता है। अद्वैत आत्मा में तो वह भाव है ही नहीं। अब रही शरीर की बात, सो यह क्षण-क्षण बदलता है, इसके सम्बन्ध भी नित्य एक से नहीं रहते, वे भी बदला करते हैं। आप राजा ही होते तो सबके लिये राजा होते, नित्य राजा ही बने रहते, सो बात देखने में आती नहीं। तुम्हारी

पत्नी तुम्हें पति कहती है। पुत्र पिता कहता है, साला बहनोई कहता है, भाभी देवर कहती है, माँ बेटा कहती है, बहिन भाई कहती है, तुम्हारा द्वेषी राजा शत्रु कहता है प्रेमी पुरुष मित्र कहते हैं तथा गुरु शिष्य कहते हैं। फिर आप राजा कहाँ रहे? कल कोई शत्रु चढ़ाई कर दे तो आप डर से भागकर जंगलों में भटकते फिरें। प्रजा के लोग सब मिलकर मुझे गद्दी पर बिठा दें। फिर मैं तुम्हें बेगार में पकड़ कर अपनी पालकी में लगा दूँ, फिर कौन सेवक रहा, कौन स्वामी रहा बताओ? अरे, जो स्वामी सेवक भाव क्षण-क्षण में बदलता रहता है, उस परिवर्तन-शील, क्षणिक, असत्य, अनित्य, सम्बन्ध का मैं आत्म स्वरूप शुद्ध बुद्ध पुरुष अपने में आरोप करके कैसे आज्ञा दे सकता हूँ और कैसे पालन करने को बाध्य हो सकता हूँ। महाराज! यह स्वामी सेवक का भाव केवल व्यवहार के लिये ही है, परमार्थ में इसका तनिक भी उपयोग नहीं है। यदि स्वामी सेवक का भाव निश्चित ही शाश्वत हो, तब तो आज्ञा देना, आज्ञा पालन करना सम्भव भी हो सकता है। इन मरणशील नाशवान जीवों में स्वामी सेवक-राजा-प्रजा, स्तुत्य और स्तुतिकर्ता का भाव कल्पित है अनित्य है असत्य है। परमार्थ दृष्टि से विचार करें, तो कौन किसका स्वामी कौन किसका सेवक। इतने पर भी यदि तुम्हें अभिमान है, इस अनित्य क्षणभंगुर नाशवान शरीर में ही तुम आत्मबुद्धि रखकर आग्रह करते रहो, कि नहीं-नहीं मैं राजा हूँ, मेरी आज्ञा का तुम्हें पालन करना ही होगा। तो हमें कोई हठ भी नहीं। बताइये क्या करूँ? आज्ञा दीजिये कौन-सी आपकी सेवा करूँ।

अन्त में आपने एक बात और कही—"तू उन्मत्त है पागल है जड़ है। डंडे मार-मारकर तेरा पागलपन सब ठीक कर दूँगा।"

श्रीशुक कहते हैं—"हे अभिमन्यु नन्दन राजन्! इतना कहते-कहते भरतीजी फूट पड़े। अब वे अपने को अधिक छिपा

न सके। उपदेश की झोंक में वे आत्मगोपन कर ही न सके। निर्भय होकर गरजते हुए बोले—"राजन् मैं ब्रह्मज्ञानी हूँ मैं अपनी स्थिति में प्राप्त स्थितप्रज्ञ हूँ। आप मुझे ऐसा नहीं मानते, पागल जड़ ही समझते हैं तो समझते रहें, मैं आग्रह नहीं करना कि आप मुझे बुद्धिमान समझें। किन्तु यदि आपकी दृष्टि से मैं पागल ही हूँ, तो पूर्ण पागल को कोई डंडों से कैसे ठीक कर सकता है। यदि मारकर ही पागलपन मिटा दिया जाता तो संसार में अब तक कोई पागल रहने ही न पाता, क्योंकि मारना तो सभी जानते हैं। डंडा कौन नहीं मार सकता। सो राजन्! यदि आप मुझे आत्मा-राम महात्मा मानते हैं, तब तो छोटा-मोटा राजा-प्रजा, का सम्बन्ध आपको भूल जाना होगा। यदि ऐसा न समझकर आप मुझे सिड़ी पागल ही मानते हैं, तो पागल तो अपनी इच्छानुसार ही वर्ताव करेगा। उस पर तो आपके व्यंग वचनों का, दण्ड के भय का, कठोर वाक्यों का कुछ प्रभाव होने का नहीं।"

श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"हे पाण्डु-नन्दन नरेन्द्रमण्डलीमण्डन राजन्! इतना कहकर महात्मा जड़-भरत चुप हो गये। उन्होंने समझ लिया पालकी ढोने का भी मेरा कोई प्रारब्ध उदय हुआ है, उसका क्षय तो भोगने से ही होगा। इसलिए राजा के प्रश्नों का युक्तियुक्त उत्तर देकर और उसके उत्तर की बिना प्रतीक्षा किये ही उन्होंने पालकी को फिर से कंधे पर रख लिया और कहारों से कहा—"चलो भैया, चलो।" ऐसा कहकर वे पालकी को ले जाने लगे।"

राजा रहूगण के तो गूढ़ज्ञान युक्त इन उत्तरों को सुनकर छक्के छूट गये। उसका राजापने का अभिमान चूर-चूर हो गया। उसके हृदय का मोह रूप अंधकार मिट गया। जड़ भरत के ज्ञानरूप आलोक में उसे अपने स्वरूप का बोध हुआ। राजा

घबड़ा गये। कोई ऐसा वैसा देहाभिमानी राजा होता तो कहार को इस धृष्टता के लिये दण्ड देता, किन्तु वे तो अपनी उत्तम श्रद्धा के कारण तत्व जिज्ञासा के पूरे-पूरे अधिकारी बन चुके थे। उन्हें ऐसा भान होने लगा मानों साक्षात् ईश्वर ही कहार का रूप रखकर मेरे मोह को मिटाने के लिये इस अरण्य में आ गये हों। महाराज उनके एक-एक शब्द से अत्यन्त प्रभावित हुए। अनेकों बार उन्होंने ज्ञानियों का सत्सङ्ग किया था, अनेक योग शास्त्र के ग्रन्थों का उन्होंने अध्ययन किया था, किन्तु जितनी सार युक्त गम्भीर बातें इन्होंने कहीं, उतनी आज तक उन्हें कहीं भी नहीं मिली थीं। राजा का हृदय पानी-पानी हो गया, वे सहसा अपना कर्तव्य निश्चित न कर सके। हड़बड़ाहट में वे कहारों को यह आज्ञा भी न दे सके, कि मेरी पालकी को रोको। उन्होंने सहसा चलती हुई पालकी में से ही छलाङ्ग मारी और वे कूदकर उन मुनिश्रेष्ठ के पाद पद्मों में पड़ गये। उन्होंने अपने अश्रुओं से उनके धूलि भरे पैरों को धो दिया। पलकों से उनकी पांशु पोंछी तथा स्नेह भरित हृदय से अचेत हुए चिरकाल तक पड़े के-पड़े ही रह गये।

छप्पय

आतम ज्ञान मह मगन मोइ नहिँ भेद लखावै।
तू मोकूँ हे नृपति! मत्त उन्मत्त बतावै॥
ज्ञानी मिरीं उभय भाँति तव वश नहिँ आऊँ।
देह मोह नहिँ नेक कर्म प्रारब्ध बिताऊँ॥
अस कहि शिविका कन्ध धरि, चले भूप तम भगि गयो।
शिविका तें कूद्यो तुरत, जड़ पैरनि महँ परि गयो॥

—०—

जड़भरतजी से रहूगण के परिचय प्रश्न

[३३५]

कस्त्वं निगूढश्चरसि द्विजानाम्
विभर्षि सूत्रं कतमोऽवधूतः ।
कस्यासि कुत्रत्य इहापि कस्मात्
क्षेमाय नश्चेदसि नोत शुक्लः ॥*

(श्री भा० ५ स्क० १० अ० १६ श्लोक)

छप्पय

पूछे है अधीन— कौन तुम रहहु कहाँ प्रभु ।
कस अस वेष बनाइ गुप्त बन बन बिचरो बिभु ॥
योगेश्वर वा सिद्ध स्वयं नर बनि हरि आये ।
करि करुना करुनेश ! सुधा सम बचन सुनाये ॥
या असार संसार में, सार वस्तु जानन निमित ।
कपिलाश्रम कूँ जातु हौं, ब्रह्म भूत गुरु मिले इत ॥

साधु पुरुष पहले तो किसी को अपनाते नहीं अपना यथार्थ रूप बताते नहीं, यदि भाग्यवश किसी को अपना लेते हैं, अपने

---

* श्रीशुक कहते हैं—"राजन् ! जड़भरतजी से राजा रहूगण पूछने लगे—"ब्रह्मन् ! आप कौन हैं ? आप द्विजों जैसा यज्ञोपवीत तो पहिने हुए हैं, किन्तु अपने को छिपाये हुए हैं । क्या आप कोई किन्ही नित्य अवधूतों में से हैं ? आप किसके पुत्र हैं ? आपका जन्म स्थान कहाँ है ? यहाँ पर कहाँ से आये हैं ? या आप हमारे कल्याण के लिये सत्त्व मूर्ति धारण किये हुए स्वयं भगवान् कपिल ही तो नहीं हैं ?"

सत्स्वरूप को प्रगट कर देते हैं, तब उसे पार ही पहुँचा देते हैं। आत्मगोपन अज्ञजनों से होता है। जो विज्ञ हैं, अधिकारी हैं, वे तो आत्मस्वरूप ही हैं, उनसे क्या संकोच। हम दूसरों के सम्मुख नग्न होने में लजाते हैं, किन्तु अपने आप से भी या अपने अभिन्न हृदय से भी कभी किसी ने आज तक संकोच किया है? यदि किया है, तो वह आत्मीय नहीं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब महाराज रहूगण भरतजी के बचनों से अत्यंत प्रभावित होकर उनके चरणारविंदों में गिर पड़े, तब भरतजी को उस पर दया आ गयी। वे बिना कुछ आपत्ति किये खड़े रहे, न तो उन्होंने राजा को अपने पैरों से पृथक किया और न पालकी छोड़कर भाग ही गये। आज उन्होंने अपने पागलपन को भी छोड़ दिया। आज तो वे अपने यथार्थ रूप में प्रकट हो गये।

राजा रहूगण का जब प्रेम वेग कुछ कम हुआ, तो उन्होंने उठकर फिर से भरतजी की चरण-वन्दना की। दौड़कर पालकी से गद्दी तकिये उठा लाये। लाल मखमल की मुलायम गद्दी को एक वृक्ष के सहारे बिछाकर हरी मखमल के खोल वाले जिन पर सुवर्ण की जरी का काम हुआ था, तीन बड़े-बड़े तकिये अगल-बगल और पीछे उस गद्दी में लगा दिये। हाथ जोड़कर उन्होंने भरतजी से विराजने की विनय की। राजा की प्रार्थना को स्वीकार करके आज अवधूत शिरोमणि भरतजी अपनी कृत्रिम जड़ता को छोड़कर हँसते हुए गद्दी पर बैठ गये। एक मुलायम मसनद को उन्होंने अपनी गोद में रख लिया। उस पर हाथ टेक कर कहने लगे—"हाँ, तो राजन्! कहिये, कौन स्वामी है, कौन सेवक है।"

अत्यन्त लज्जा का भाव प्रदर्शित करते हुए राजा ने दीनता

के स्वर में कहा—"भगवन्! यह मन्दमति ही दास है। आप ब्रह्मभूत आचार्य ही स्वामी हैं।"

यह सुनते ही भरतजी हँस पड़े और बोले—"राजन्! फिर भूल कर रहे हो?"

राजा रहूगण बात को टालते हुए कहने लगे—"अच्छा, भगवन्! ये बातें तो पीछे होंगी, मैं यह जानना चाहता हूँ कि आप हैं कौन? इस यज्ञोपवीत से तो जान पड़ते हैं आप कोई द्विज हैं, किन्तु आप सर्वथा अपने को छिपाये हुए हैं। मैं आपका परिचय जानना चाहता हूँ।"

इस पर भरतजी बोले—"राजन्! आप कहने से तुम्हारा अभिप्राय किससे है? दो वस्तुएँ हैं, एक तो देह एक देही। देह तो पंचभूतों का बना हुआ है, जैसा देह आपका वैसा मेरा, रही देही आत्मा की बात सो वह तो एक नित्य विभु सर्वगत, सर्व-व्यापक है। उसका परिचय क्या दूँ। अतः आपका यह प्रश्न संगत नहीं।"

राजा रहूगण बोले—"अच्छा, महाराज! जाने दें जाति-पाँति से मुझे क्या लेना, यह तो बता दें आप नित्य सिद्धों में से तो कोई नहीं हैं। दत्तात्रेय, आसुरी पतञ्जलि इनमें से तो कोई नहीं हैं? यदि नहीं तो यहाँ किस ऋषि के घर आपने जन्म लिया है?"

जड़ भरतजी बोले—"महाराज! फिर वही प्रश्न। शरीर तो पंचभूत से उत्पन्न होता है, अन्त में उन्हीं में विलीन हो जाता है। आत्मा किसी से कभी उत्पन्न न हुआ है न होगा। जब वह उत्पन्न ही नहीं हुआ तो उसके जनक का नाम कैसे बताऊँ।"

राजा बोले—"अब महाराज! मैं आपसे तर्क तो कर नहीं सकता। अच्छा, यही बता दीजिये आप यहाँ कहाँ से पधारे हैं। कहाँ रहते थे, आपका जन्म किस स्थान में हुआ?"

भरतजी बोले—"राजन्! इस भौतिक बुद्धि को छोड़ो, कुछ परमार्थ चर्चा करो। आत्मा न कहीं से आता है न जाता है। आना जाना तो वहाँ होता है जहाँ त्याग ग्रहण की संभावना हो। हम प्रयाग से काशी आये। अर्थात् हम काशी में नहीं थे, प्रयाग में थे अब प्रयाग को छोड़कर काशी पहुँच गये। आत्मा तो सर्व-व्यापक है। उसमें आना जाना किसी एक स्थान में उत्पन्न होना संभव नहीं।"

राजा रहूगण अवाक् होकर कहने लगे—"प्रभो! आपकी इन गूढ़ बातों से तो मैं इसी निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि आप पुरुष नहीं पुरुषोत्तम हैं। आपके आने का कोई सांसारिक प्रयोजन नहीं। केवल मेरे ऊपर कृपा करने ही आप इस गुप्तरूप से प्रकट हुए हैं। आप भगवान् के ज्ञानावतार स्वयं साक्षात् कपिल, भगवान् हो हैं। प्रभो! मुझ दीन हीन के अपराधों की ओर ध्यान न देकर मुझे क्षमा कर दें। मुझ दुष्ट ने आपका बड़ा भारी अपमान कर दिया, इससे मुझे बड़ी ग्लानि हो रही है, मेरा हृदय धड़क रहा है।"

हँसते हुए भरतजी बोले—"अरे बस, बोल गई कुकड़ूँ कूँ। तुम तो तबसे बहुत बड़बड़ा रहे थे, मैं राजा हूँ यह कर दूँगा, वह कर दूँगा।" अब तनिक-सी बात पर ही डरकर थर-थर काँपने लगे।

राजा ने दृढ़ता के स्वर में कहा—"नहीं भगवन्! डरने की बात नहीं। मनुष्यों की तो बात ही क्या, मैं इन्द्र के वज्र से नहीं डरता, शिव के त्रिशूल से नहीं डरता। यम के पाश से नहीं डरता, कहाँ तक कहूँ भगवान् के पावकास्त्र, सूर्यास्त्र, चन्द्रास्त्र, वायव्यास्त्र तथा कुवेरास्त्र किसी से भी डरने वाला नहीं, हाँ मैं ब्राह्मणों के अपमान से अधिक डरता हूँ। मेरे द्वारा आपका एक

बार नहीं, बार-बार अपमान हुआ है इसीलिये मैं बार-बार दीनता के साथ पूछ रहा हूँ कि आप ब्राह्मण ही हैं न ?"

इस पर भरतजी बोले—"राजन्! हम तो जो हैं सोई हैं, तुम अपनी बात बताओ।"

यह सुनकर रहूगण बोले—"भगवन्! आपके योगयुक्त वाक्यों को समझने की तो मुझमें क्षमता है नहीं। आप अत्यन्त गूढ़ वाणी में बोलते हैं। महाराज! मैं अपनी क्या बात बताऊँ ? आपसे कोई बात छिपी थोड़े ही है, आप सबके भीतर बाहर की बातें जानने वाले हैं।"

फिर भी मैं अपना परिचय आपको देता हूँ। मैं सिंधु सौवीर देश का राजा हूँ। मैंने सुना है कि आत्मतत्त्व के ज्ञाता योगेश्वरों के भी परम गुरु, साक्षात् श्रीहरि अपने अंश रूप से अवतरित हुए हैं, लोक में वे 'कपिल' इस नाम से विख्यात हैं। मैं उनके समीप जा रहा था, यह पूछने के लिये कि इस संसार में एकमात्र शरण्य कौन है ? किनकी शरण में जाने से सभी शोक सन्ताप समाप्त हो सकेंगे।" इसी इच्छा से उनके आश्रम में जाते हुए बीच में आपके दर्शन हो गये मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है, कि साक्षात् भगवत् स्वरूप श्री योगेश्वर कपिल आप ही हैं।"

भरतजी हँस पड़े और बोले—"राजन्! तुम्हें बार-बार ऐसा भ्रम क्यों हो रहा है ?"

राजा रहूगण ने कहा—"महाराज! आप योगियों की गति जानी नहीं जा सकती। जैसे योगेश्वरों के भी ईश्वर आपके भगवान् श्याम सुन्दर लीलाधारी हैं, वैसे ही आप सब हैं। आप लोक निरीक्षणार्थ अपने वेष को छिपाये जहाँ इच्छा होती है घूमते फिरते हैं। हम जैसे माया मोह में आवद्ध प्राणियों को भुलावे में डालते रहते हैं। किसी भाग्यशाली पर कृपा भी कर देते हैं, नहीं तो अधिकांश तो आपके स्वरूप को बिना जाने

अपराध के ही भागी बनते हैं, क्योंकि गृहस्थ में आसक्त रहने वाला विवेकहीन पुरुष आप योगेश्वरों की गतिविधि को कैसे जान सकता है। देखिये, मुझसे ही कितना भारी अपराध बन गया। आप पूजार्ह को मैंने अपनी पालकी में कहार बनाकर लगाया आपसे बोझा ढुवाया आपके ऊपर सवार हुआ और बहुत-सी खरी खोटी बातें भी कहीं। सो हे भगवन्! मेरे इन सभी अपराधों को आप अपने दयालु स्वभाव के कारण क्षमा कर दें। मैं बहुत ही लज्जित हूँ।"

जड़ भरतजी ने स्नेह के स्वर में कहा—"राजन्! क्षमा और अपराध जहाँ द्वैधी भाव है वहाँ हुआ करता है। अपने आत्मीयों से क्या अपराध और क्या क्षमा? भूल से यदि दाँतों से जीभ कट जाय तो क्या कोई दातों को तोड़ फेंकता है? या भूल से उँगली आँख में कुच जाय तो क्या कोई हाथ को काट देता है। ये सब तो शिष्टाचार की बातें हैं। इन्हें तो समाप्त करो अब जो यथार्थ बातें हो, उन्हें कीजिये। परमार्थिक प्रश्नों को पूछिये अपनी शंकाओं को मेरे सम्मुख प्रकट कीजिये।"

जब स्वयं ही भरतजी ने कृपा करके राजा को आज्ञा दी और उन्हें कुछ पूछने का अवसर दिया, तो वे बड़े प्रसन्न हुए और अपनी शंकाओं को पूछने के लिये उद्यत हुए?

श्रीशुक कहते हैं—"राजन्! महाराज रहूगण ने भरतजी के बचनों में बड़ी ही सुन्दर शंकायें उठाई। उन्हें आप ध्यान पूर्वक सुनेंगे और समझेंगे तो आपको विदित हो जायगा, कि राजा रहूगण कितने भारी जिज्ञासु और सूक्ष्मबुद्धि के विचारवान नृपति थे। अब पहिले मैं आप से राजा के द्वारा की हुई शंकाओं का वर्णन करके तब भरतजी द्वारा उनका जिस प्रकार समाधान हुआ है, उसका विस्तार से वर्णन करूँगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह रहूगण और भरत का

सम्वाद समस्त ज्ञान का उसी प्रकार सार है, जैसे दुग्ध का सार घृत । आपकी आज्ञा हो तो इसका वर्णन करूँ, नहीं तो मेरी तो इच्छा है इसका वर्णन फिर कभी प्रसङ्गानुसार ज्ञान प्रकरण में करूँगा, आगे कथा भाग को चालू रखूँ ।"

इस पर अत्यन्त उत्सुकता प्रकट करते हुए शौनकजी ने कहा—"सूतजी यही बात तो आपकी हमें अप्रिय लगती है। महाभाग ! आप प्रसङ्ग को अधूरा छोड़ देंगे, तो हमारी जिज्ञासा बनी ही रहेगी। राजा ने क्या-क्या प्रश्न किया भरतजी ने उनके क्या-क्या उत्तर दिये ? गूढ़ होने पर भी, है तो कथा का ही भाग। फिर आप तो गूढ़ ज्ञान को भी इतनी सरलता के साथ दृष्टान्त दे दे कर समझाते हुए बताते हैं, कि चित्त ऊबता ही नहीं। आप शुष्कज्ञान रूप सत्तुओं में उपाख्यान सरसता तथा भक्ति प्रसङ्ग रूपी चीनी, घृत और दुग्ध मिलाकर उसे हृद्य परमपेय और सुस्वादु बना देते हैं। सूतजी ! देखिये, यह हम आपकी बात नहीं मान सकते। इस प्रसङ्ग को आप पूरा-पूरा दृष्टान्तों के सहित भली-भाँति समझा-समझा कर बतावें, कृपणता न करें।"

सूतजी ने उल्लास के साथ कहा—"महाराज़ ! मुझे क्या है, आप सुनने को उद्यत हैं तो मैं सुनाता हूँ, सावधान होकर आप सब श्रवण करें।"

छप्पय

करुनासार कपिल आपु हो मेरे स्वामी ।
हो अनादि अखिलेश अलख अज अन्तर्यामी ॥
जड़ को वेष बनाय फिरौ सब जग अवलोकत ।
निज ऐश्वर्य छिपाय अवनिपै निरभय विचरत ॥
आतमाराम सुबोधमय, योगेश्वर निष्काम हो ।
निरगुन माया तें परे, षट संपति के धाम हो ॥

—०—

राजा रहूगण की शंकायें और भरतजी द्वारा समाधान

[३३६]

दृष्टः श्रमः कर्मत आत्मनो वै
भर्तुर्गन्तुर्भवतश्चानुमन्ये ॥
यथासतोदानयनाद्यभागवत्,
समूल इष्टो व्यवहारमार्गः ॥*

(श्री भा० ५ स्क० १० अ० २१ श्लो०)

छप्पय

कह्यो मांइ श्रम नहिँ बात नाहिँ बैठी मनमहँ ।
भार ढ़ोइ पथ चलो होहि श्रम सबके तनमहँ ॥
स्वामी सेवक भाव आप व्यवहार बतावें ।
घड़ा मृत्तिका एक होहि पानी कप लावें ॥
सुख दुख होवे पुरुष कूँ, देह क्ग्न मन, बँधेतें ।
जल चावल हैं पात्र महँ, रँधे अग्नि के लगेतें ॥

---

* राजा रहूगण जड़ भरत जी से शङ्का करते हुए कहते हैं—"मैंने काम करने से श्रम होते स्वयं देखा है, अतः अनुमान करता हूँ आपको भी भार ढोने और मार्ग चलने से अवश्य ही श्रम हुआ होगा। रही स्वामी सेवक भाव की असत्यता तथा व्यवहार मात्र की बात सो उसे भी मैं मूल में सत्य ही मानता हूँ। यद्यपि घड़ा सत्य नहीं है, मिट्टी ही है फिर भी पानी तो घड़े से ही लाया जाता है। यदि उसे भी मूलतः असत् ही मान लें, तो असत् घट से जल दिलाना आदि कार्य कैसे सम्भव हो सकते हैं।"

जब हम आचार्य को अपने अनुकूल देखते हैं, तव हम धृष्ट हो जाते हैं और उन्हीं की बातों का खंडन करने लग जाते हैं। यहाँ खण्डन से तात्पर्य उनके प्रति अनादर प्रदर्शित करना नहीं है, किन्तु विषय को शंकाहीन बनाना है, जब हम अपनी अल्प बुद्धि से आचार्य की व्याख्या में दोष दिखाकर शंका करते हैं और वह शंका ठीक है तो आचार्य नाना युक्तियों द्वारा उन शंकाओं का उत्तर देते हुए अपने कथन की विस्तृत व्याख्या करके शिष्य की शंका को निर्मूल कर देंगे। ऐसे ही श्रद्धापूर्वक सम्मान के सहित होने वाले परस्पर के वाद विवाद से तत्वबोध का निर्णय होता है। यही सब सोचकर राजा रहूगण ने भरतजी के कथन में ही दोष दिखाना आरंभ किया।

श्रीशुक कहते हैं—"राजन्! अब महाराज रहूगण उन भरतजी के वचनों में ही शंका करने लगे। राजा ने कहा—"प्रभो! आपने कहा था, मैं न तुम्हारी पालकी ढो रहा हूँ, न मुझे मार्ग का श्रम ही है, सो यह बात तो मुझे सत्य प्रतीत होती नहीं। क्योंकि पालकी ढोते हुए तो आपको सब प्रत्यक्ष देख ही रहे थे, प्रत्यक्ष के सम्मुख तो अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं। हाँ, आपको श्रम हुआ या नहीं यह प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता, क्योंकि थकना श्रम होना यह स्वानुभव विषय है, किन्तु बाहरी चिन्हों से अपनी अनुभूति से यह भी अनुमान से जाना जा सकता है। मैं स्वयं जब शस्त्र लेकर युद्ध में श्रम करता हूँ तो थक जाता हूँ, मार्ग चलने में, बोझा ढोने में मुझे तथा सभी को श्रम होता है, इससे अनुमान लगाया जा सकता है, आपको भी श्रम हुआ होगा। फिर पसीना, उदासी से भी अनुमान लगा लेते हैं यह व्यक्ति थका हुआ है। जब बोझ ढोना और श्रम ये दोनों बातें प्रत्यक्ष तथा अनुमान से सिद्ध हैं, तो फिर आप इन्हें मानते क्यों नहीं। पहिली शंका तो मेरी यही है।"

यह सुनकर भरतजी हँसे और बोले—"पहिले तो राजन्! आप बताइये, प्रत्यक्ष आप किसे कहते हैं? प्रत्यक्ष आपने क्या देखा?"

राजा ने कहा—"महाराज, प्रत्यक्ष की क्या व्याख्या करूँ आँखों से जो सम्मुख दिखाई देता है, वही प्रत्यक्ष है। हमने अपनी आँखों से देखा, पालकी आपके कंधे पर थी, आप उसे ढो रहे थे। मैंने ही नहीं इन सब लोगों ने देखा।"

भरतजी बोले—"हाँ, तो इस पर विचार करो आपने किसके ऊपर किसको देखा। इसे आप ढोने वाला कह रहे हैं उसके पृथ्वी पर दो पैर थे। पैरों के ऊपर गुल्फ, टखने थे। टखने के ऊपर पिंडुलियाँ थीं। पिंडुलियों के ऊपर घुटने थे। घुटनों के ऊपर जाँघें थीं। जाँघों के ऊपर कटि प्रवेश चूतड़ थे, उनके ऊपर पेट था। पेट के ऊपर वक्षःस्थल, वक्षःस्थल के ऊपर कंधा। कंधे के ऊपर पालकी का बाँस। उस बाँस में एक बड़ा-सा काट कूट-कर कीलों से बनाकर काष्ठ लटका था। उस काष्ठ के ऊपर एक मांस का बना पिंड बैठा था। वह अपने को बार-बार अकड़-अकड़ कर कह रहा था—"मैं सिन्धु सौवीर देश का राजा हूँ।" अब सोचिये ढोने वाला कौन है? यदि जो जिसके ऊपर हो वही बोझ माना जाय, तो सभी पर बोझ है। तुम्हारे शरीर पर बोझ नहीं है क्या? पैरों पर कटि का, उदर का कटि पर है। सिर का कंधे पर है। यदि चलने से ही थकावट होती हो, तो तुम भी तो चल रहे थे, पालकी भी चल रही थी। सबको समान रूप से श्रम होना चाहिये।"

राजा ने कहा—"महाराज, पालकी तो जड़ है, हम आप चैतन्य हैं, मैं बैठा था, आप पैदल चल रहे थे। इसमें तो बहुत भेद है।"

धैर्य के साथ जड़ भरतजी ने कहा—"उस भेद को ही तो

समझने की आवश्यकता है। क्या भेद है, केवल नाम और आकृति का ही तो कल्पित भेद है। आप जिसे पालकी कहते हैं, पहिले उसे ही समझ लो। पर्वत के ऊपर एक वृक्ष था। काटकर उसे चीर लिया। अब उसे वृक्ष न कहकर सब लोग तख्ते कहने लगे। दो चार लकड़ी के तख्ते काट कूटकर बाँस, कील लगाकर एक गोल-सी वस्तु बना ली, अब न उसे लोग पेड़ कहते हैं न तख्ते, अब उसका नाम शिबिका-पालकी पड़ गया। तत्वतः इसमें पदार्थ तो सब वे ही हैं केवल नाम और आकृति में कुछ अन्तर हो गया। वे काष्ठ भी एक के ऊपर एक रखे हैं। उनको भी श्रम होना चाहिये। अब रही जड़ चैतन्य की बात। तो मैं पूछता हूँ, आपके शरीर में या संसार के सभी शरीरों में और उस शिबिका के पदार्थों में क्या अन्तर है। काष्ठ की बनी शिबिका भी पंचभूतों का विकार है और सभी शरीर भी पंचभूतात्मक ही हैं। जब सबमें एक से ही पदार्थ हैं, तब यह कहना 'यह मोटा है, यह पतला, यह बलवान् है, यह निर्बल। यह जड़ है यह चैतन्य, यह वाह्य है यह वाहक, यह राजा है यह सेवक।' केवल व्यवहारमात्र ही तो है। आत्मा तो इन सबसे निर्लेप है। वह दो है नहीं। वह एक अखंड अद्वैत है। तब यह कहना कि हम प्रत्यक्ष आपको ढोते हुए देख रहे हैं, थक गये होंगे, बली हैं यह अज्ञान से ही कथन हो सकता है। व्यवहार में इसकी सत्ता भले ही हो, परमार्थ में तो ये बातें निरर्थक, व्यर्थ ही कही जायँगी।"

राजा रहूगण ने कहा—"भगवन् ! यह आप बात तो बड़ी सुन्दर कर रहे हैं, किन्तु यह बात मेरी बुद्धि में ठीक-ठीक बैठी नहीं। इसे स्पष्ट करके सुनाइये।"

इस पर जड़भरतजी हँसते हुए बोले—"अच्छा राजन् ! इस पर हम आपको एक दृष्टांत सुनाते हैं, सुनिये। एक ऋषि थे, बड़े

धर्मात्मा थे उनके एक पुत्र था, वे अपने पुत्र को बहुत योग्य ज्ञानी बनाना चाहते थे, किन्तु लाड़ प्यार के कारण प्रायः पुत्र पिता से पढ़ नहीं सकता। यही सब सोचकर ऋषि उन्हें अपने बड़े भाई के समीप ले गये। उनसे प्रार्थना की—"आप इसे सर्वथा योग्य बना दें। इसकी ब्रह्मज्ञान में–वेदान्त शास्त्र में–पूर्ण निष्ठा करा दें।" अपने भतीजे को शिष्य रूप में पाकर ऋषि बड़े प्रसन्न हुए और अपने छोटे भाई से कहा—"तुम भैया! निश्चिन्त रहो, मैं पूर्ण ज्ञानी बना दूँगा।" इस पर भाई की चिन्ता दूर हुई। अब ऋषि उन्हें इस जगत् की अनित्यता वेदान्त वाक्यों से समझाने लगे। चिरकाल तक वेद वेदान्त पढ़ाते रहे। कुछ काल में समावर्तन संस्कार का समय आया, स्नातक होकर विवाह करके वे उनके शिष्य अथवा भतीजे अपने घर चले गये। काम काज में फँस गये। इधर आचार्य ने सोचा—"देखें चलकर उसे पूर्ण ज्ञान हुआ या नहीं।" प्राचीन ऋषियों की आयु हजारों लाखों वर्षों की होती थी। हजारों वर्ष बीत गये थे। आचार्य कुछ वृद्ध भी हो गये थे, बाल पक गये थे। शिष्य महोदय भी तपस्या करते-करते युवा हो गये थे।"

आचार्य अपने शिष्य के नगर में गये। राजन्! यह तो आप जानते ही हैं, राजधानियों के बड़े-बड़े नगरों के चारों ओर परकोटे होते हैं। उनमें चारों ओर प्रधान द्वार होते हैं लोग उन्हीं से जाते आते हैं। आचार्य ऋषि नगर के प्रधान द्वार से जाना चाहते थे कि प्रहरियों ने उन्हें रोक दिया। उन्होंने पूछा—"भाई क्यों नहीं जाने देते हो।"

प्रहरियों ने डाँटकर कहा—"महाराज की जब तक सवारी न निकल जायगी, तब तक बाहर का कोई भी आदमी भीतर नहीं जा सकता।" यह सुनकर आचार्य मुनि द्वार के एक ओर बैठ गये। और भी बहुत से लोग आ आकर वहाँ बैठने लगे।

दैवयोग से उनके भतीजे शिष्य अरण्य से कुशा और समिधाओं का गट्ठर लिये हुए आये। उन्हें भी प्रहरियों ने रोक लिया। वे भी अपने गट्ठर को एक ओर रखकर राजा की सवारी निकलने की प्रतीक्षा में बैठे रहे। आचार्य तो पहिचान गये यह मेरा चेला है, किन्तु चेलाजी न पहिचान सके। बहुत परिश्रम से धूप में लकड़ियाँ लाये थे। लाते-लाते थक गये थे, बैठकर पसीना सुखा रहे थे। इतने में ही शनैः-शनैः खिसकते-खिसकते आचार्य इनके पास पहुँच गये। इतने में ही बड़ी धूम से गाजे बाजे के साथ राजा की सवारी भी आ पहुँची।"

जैसे बूढ़े लोगों का स्वभाव होता है, बड़ी सरलता से पूछा—"क्यों जी यह क्या प्रपञ्च है।"

उन मुनि ने सरलता से कहा—"आज एक विशेष पर्व है। यह राजा की सवारी है।"

आचार्य बड़े प्रसन्न हुए और बोले—"भैया, मुझे बता दो राजा कौन है?"

आश्चर्य के साथ शिष्य मुनि ने कहा—"अरे, तुम इस देश के राजा को भी नहीं जानते?"

आचार्य ने कहा—"कैसे जानू भैया! तुम जनाओ तो जानूँ। इन इतने लोगों में राजा कौन है। मुझे पता ही नहीं लगता।"

युवक मुनि बूढ़े के इस अज्ञान पर हँस पड़े और बोले—"अरे बाबाजी! इतना भी आप नहीं जान सकते। ये जो सब हाथों में अस्त्र-शस्त्र लिये पैदल चल रहे हैं, ये तो सब अन्य प्रजा के जन हैं और ऊँचे से हाथी पर जो वस्त्राभूषणों से सुसज्जित पुरुष छत्रचँवर धारण किये बैठा है वह राजा है।"

सरलता से आचार्य ने पूछा—"हाथी कौन? राजा कौन?"

इस प्रश्न से युवक मुनि खीज उठे, थके तो थे ही अतः व्यंग

के साथ बोले—"मालूम होता है, आप किसी पहाड़ की कन्दरा से अभी निकल कर आये हैं। आप यह भी नहीं जानते हाथी कौन-सा है। अरे, जिस डील डौल वाले पशु पर बैठे हैं वह तो हाथी है और जो उस पर सवार मनुष्य है वह राजा है!"

आचार्य ने उसी सरलता से पूछा - "पशु कौन-सा है मनुष्य कौन-सा है ?"

अब तो युवक मुनि का धैर्य छूट गया। वे कोप दृष्टि से बूढ़े मुनि को देखते हुए सोचने लगे—"यह पागल तो नहीं है। इसे पशु और मनुष्य के भेद का भी ज्ञान नहीं। फिर भी सम्हल कर बोले—"बाबाजी! क्यों कान खाते हो, कब से बक-बक लगा रखी है। भाँग तो नहीं पी रखी है। अरे, तुम्हें इतनी बुद्धि नहीं कि पशु कौन है, मनुष्य कौन है। जिस पर चढ़े हैं वह पशु है, जो चढ़ा है वह मनुष्य है। नीचे वाला पशु है, ऊपर वाला मनुष्य है।"

बूढ़े ने फिर सरलता से पूछा—"ऊपर क्या, नीचे क्या ? ऊपर कौन ? नीचे कौन ?"

अब तो युवक का क्रोध सीमा को अतिक्रमण कर गया। उछल कर छाती पर सवार हो गया। भूरी-भूरी दाढ़ी को पकड़कर बोला—"तब से व्यर्थ के प्रश्न पूछ-पूछकर कान खा डाले हैं। अब समझे, तुम नीचे हो मैं ऊपर हूँ।"

उसी सरलता में बूढ़े मुनि बोले—"तुम कौन ? मैं कौन ?"

अब तो युवक का माथा ठनका। ये तो कोई ज्ञानी ऋषि हैं, जिन्हें द्वैत की गन्ध भी नहीं।" शीघ्रता से उनके ऊपर से उतर पड़े और चरणों में गिरकर कहने लगे—"भगवन्! प्रतीत होता है आप मेरे आचार्य भगवान् ऋभु हैं। क्योंकि उनके अतिरिक्त ऐसा अद्वैत ज्ञान किसी और को हो नहीं सकता।"

हँसकर महामुनि ने कहा—"हाँ बेटा! मैं तेरा आचार्य ही हूँ।

तेरी परीक्षा लेने आया था, कि ज्ञान में तेरी पूर्ण निष्ठा हुई या नहीं। अभी भैया कचाई है, देखो, वाह्यवाहक तू मैं, मेरा तेरा ये सब व्यवहार की बातें हैं। और मिथ्या हैं। ज्ञानी को स्वप्न में भी इनकी सत्यता पर आस्था न करनी चाहिये। इन्द्रियों से हम जिनका अनुभव करते हैं, मन से जिन-जिन का अनुभव करते हैं, वे सब माया जनित असत्य हैं। आत्मा के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं। आत्मा असंग नित्य, शाश्वत और अपरिवर्तनशील है।"

इतना उपदेश देकर भगवान् ऋभु अपने शिष्य निदाघ द्वारा पूजित और सत्कृत होकर फिर अपने आश्रम पर चले गये। सो, राजन्! उत्तमता और अधमता ऊँचा होना, नीचा होना यह आत्मा में सम्भव नहीं। ये सब चित्त के कल्पित विकार हैं। जब तक यह चित्त सतोगुण रजोगुण और तमोगुण से व्याप्त रहता है। तब तक इन सभी ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों को सेवक बनाकर उनके द्वारा कार्य कराता रहता है मन में भी कार्य करने की प्रेरणा पूर्व जन्मों की वासनाओं के अनुसार होती हैं, पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश पाँच भूत १० ज्ञान और कर्मेन्द्रियाँ एक यह स्वयं मन। इस प्रकार इन १६ कलाओं से युक्त होकर गुणों से प्रेरित विषय विकार वाला मन ही भिन्न-भिन्न नामों से भिन्न-भिन्न योनियों की असत् कल्पना करके उनमें उत्तमता और अधमता का आरोप करता है। अशुद्ध मन ही संसार में फँसता हैं, वही विशुद्ध हो जाने पर ब्रह्म तक पहुँचाता है। यथार्थ ज्ञान को प्राप्त कराता है इसलिये राजन! इस मन को विशुद्ध बनाकर आप विचार करें, न वाह्य है न वाहक, न श्रम है न आयास, जो है सोई गोलमाल है।

श्रीशुक कहते हैं—"राजन्! परमहंस शिरोमणि अवधूत जड़भरत की ऐसी गूढ़ तत्वज्ञान की बातें सुनकर महाराज

रहूगण कुछ काल तक विचार करते रहे, फिर आगे का प्रसङ्ग चालू रखने के लिये, वे भरतजी के कथन की दूसरी बातों पर शंका करने लगे। अब स्वामी सेवक भाव कैसे असत्य है, इसे समझने के लिये आगे की बात पूछने को उद्यत हुए।"

छप्पय

कहें भरत सुनु भूप ! भूत निर्मित जग जानो।
भेद भाव कछु नाहिँ ज्ञान तें निश्चय मानो॥
शिविका ऊ है काष्ठ काटि कें ताहि बनावें।
रूपान्तर ह्वै जाय फेरि नहिँ पेड़ बतावैं॥
यह विभिन्नता जगत महँ, नाम रूप के भेद तें।
नहीं सत्य तो बात यह, सभी एक हैं तत्व तें॥

जड़ भरतजी द्वारा व्यवहार और परमार्थ विवेचन

[३३७]

अकोविदः कोविदवादवादान्,
वदस्यथो नातिविदां वरिष्ठः ।
न सूरयो हि व्यवहारमेनम्,
तत्त्वावमर्शेन सहामनन्ति ॥*
(श्री भा० ५ स्क० ११ अ० १ श्लो०)

छप्पय

स्वामी सेवक भाव कल्पना जिह सब मन की ।
आत्मा तो अद्वैत उपाधी ये हैं तन की ॥
राजा होवै रङ्क रङ्क राजा बनि जावै ।
कल्ल शिविका जो चढ़्यो आज सो ताहि उठावै ॥
जग को यह व्यवहार है, ज्ञानी जन मिथ्या कहैं ।
मूरख समुझैं सत्य सब, तातैं नित नित दुख सहैं ॥

शिष्टाचार तभी तक रहता है, जब तक घनिष्टता नहीं रहती । घनिष्टता में शिष्टाचार शिथिल पड़ जाता है । जिन

---

* राजा रहूगण से जड़ भरतजी कहते हैं—"राजन् ! हो नो तुम मूर्ख, किन्तु बातें करते हो ब्रह्म ज्ञानियों की सी । इसमें ज्ञानियों के समाज में आदरणीय श्रेष्ठ नहीं कहे जा सकते ! क्योंकि पंडित लोग तत्व विचार करते समय इस व्यवहार का कभी भी समर्थन नहीं करते ।"

छोटों के प्रति अपनापन हो जाता है। इन्हें डाँटने डपटने में बड़ा सुख मिलता है। ममत्व के बिना कौन कैसे किसे प्रेमपूर्वक घुड़क सकता है। बिना अपनापन हुए कौन किसकी स्नेह भरी हँसी उड़ा सकता है। यह संसार सम्बन्ध पर ही अवलम्बित है। सांसारिक सम्बन्ध हो या पारमार्थिक दोनों ही में पक्षपात होता है। पक्षपात के बिना सम्बन्ध नहीं। योग्य शिष्य पर गुरु का पक्षपात होता ही है। बड़ों को जिनके प्रति जितना ही अधिक पक्षपात होगा, उसे वे उतना ही अधिक डाटेंगे डपटेंगे। योग्य बनाने की चेष्टा करेंगे, उसकी हँसी उड़ायेंगे और व्यंग से कहेंगे—"वाहजी, आप तो बड़े बुद्धिमान हैं। बात तो बड़ी लम्बी चौड़ी बना रहे हैं किन्तु उनमें तत्व तनिक भी नहीं।" इन स्नेह के वचनों में कितना ममत्व भरा पड़ा है, इसे अभिमानी निगुरा मनुष्य कभो समझ ही नहीं सकता।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जड़ भरतजी के कथन में और भी शंका करते हुए महाराज रहूगण कहने लगे—"भगवन्! आपने एक वात यह कही थी कि भूख, प्यास, तृष्णा, भय, शोक, श्रम ये सब आत्मा में नहीं हैं। ये तो मन के धर्म हैं, आत्मा का विषयों के सुख दुख से कोई सम्बन्ध नहीं। यह बात मेरी समझ में आई नहीं। हम यह मानते हैं आत्मा का देह, इन्द्रियों तथा मन से कोई सम्पर्क न हो, तब तो उसे सुख दुख न भी होगा, किन्तु जब जीवात्मा का शरीर से सम्बन्ध है, तो प्रत्यक्ष चाहे विषयों से उसका संसर्ग न हो किन्तु परम्परया तो सुख दुख होता ही होगा। जैसे एक चूल्हे पर बटलोई रखी है, बटलोई में पानी भरा है, पानी में धान पड़े हैं। चूल्हे के नीचे आग जल रही है। यद्यपि अग्नि का धानों से कोई प्रत्यक्ष सम्बंध नहीं। फिर भी अग्नि से बटलोई गरम हुई। बटलोई की गरमी से पानी गरम हुआ। पानी की गरमी से चावलों के ऊपर का

छिलका गरम हुआ उसके गरम होने से भीतर की चावल की मिगो भी गरम होकर उबल जाती है, चावल से भात बन जाता है इसी प्रकार शरीर, इन्द्रियाँ, मन तथा अन्तःकरण की सन्निधि से जोवात्मा पुरुष को भी सुख दुख का अनुभव होता ही होगा। एक तो मेरी यह शंका है। दूसरी यह है कि आपने कहा राजा प्रजा का सम्बन्ध मिथ्या है, कल्पित है इसका कोई पारमार्थिक प्रयोजन नहीं। सो यह बात भी मेरी समझ में नहीं आती। राजा न हो, तो संसार का काम कैसे चले। यद्यपि राजा का भी शरीर पञ्चभूतों का बना हुआ है, उसके शरीर में भी सभी पुरुषों के समान हाथ, पैर, आँख, कान आदि अंग है, फिर भी राजा उनसे विशिष्ट है। सब एक से ही मान लिये जायँ, तो कोई किसी की आज्ञा ही न मानेगा। आप कहेंगे मिट्टी और घड़ा में कोई अन्तर नहीं, घड़ा भी मिट्टी का ही बना है और मिट्टी भी मिट्टी ही है। दोनों में एक ही पदार्थ हैं। यद्यपि यह सत्य है, कि घड़े में सर्वत्र मिट्टी ही मिट्टी है। मिट्टी से बना है, मिट्टी में स्थिति है, अन्त में मिट्टी में ही मिल जायगा, फिर भी साधारण मिट्टी में तो जल आ नहीं सकता। जल तो घड़े में ही आवेगा। इसी प्रकार शासन तो राजा ही करेगा। अतः राजा में और साधारण लोगों में बहुत अन्तर है। प्रजा द्वारा सेवा के लिये नियुक्त किया हुआ ही सही, किन्तु वह है शासक और पालक ही। अतः उन्मत्त और पागल को दण्ड देना उसका धर्म है, कर्तव्य है, प्रभु की सेवा है उसमें वह दोषी नहीं। यह नियम आपके सम्बन्ध में नहीं है, आप तो विश्वबन्धु मानापमान से रहित स्वयं साक्षात ब्रह्म स्वरूप हैं। मेरी तो बात ही क्या आपका अपमान तो यदि शूलपाणि शंकर भी करें तो उनका कल्याण नहीं। कृपा करके मेरी इन शंकाओं का समाधान करें।"

श्रीशुक कहते हैं—"राजन! जब महाराज रहूगण की ये

बातें जड़ भरतजी ने सुनी, तो हँसते हुए वे निरभिमान मुनि राजा को मीठी घुड़की देते हुए कहने लगे—"राजन ! तुम हो निरे घोंघाबसन्त, किन्तु दून हाँक रहे हो बड़ी लम्बी चौड़ी। हो तो अज्ञ किन्तु बातें कर रहे हो विज्ञों जैसी। महाराज गुड़ और गोबर एक नहीं किया जाता, परमार्थ और व्यवहार दोनों पृथक्-पृथक् हैं, परमार्थ में व्यवहार की सत्ता नहीं रहती। बटलोई में पड़े चावल उबलते हैं संग से, किन्तु आत्मा तो असंग है, उसमें देहादि के साथ संग होता ही नहीं। जैसे आकाश सर्वव्यापक अपरिछिन्न सर्वगत है, किन्तु घट आदि के द्वारा वह परिछिन्न-सा लगता है। लोग व्यवहार में भी कहते हैं घड़े का आकाश, घड़े के भीतर का आकाश, शरीर का आकाश, कानों के छिद्रों का आकाश, मुख का आकाश आदि-आदि। ध्यानपूर्वक देखा जाय, तो क्या ये भेद आकाश में हैं, इन भेदों के कारण क्या आकाश में कुछ विकार हो गया ? उसकी सर्व यापकता नष्ट हो गई ? घड़ा फूटा नहीं कि घड़े का आकाश सर्वगत आकाश में मिल गया। मिल गया कहना भी मिथ्या है। पृथक् ही नहीं हुआ था, वह तो घड़े की उपाधि से पृथक-सा दिखाई देता था, उपाधि के नष्ट होने से उसकी संज्ञा भी नष्ट हो गई। इसलिये आपका यह कहना कि देह संसर्ग से, मन की सन्निधि से आत्मा को भी दुःख-सुख, श्रम, ग्लानि, भूख, प्यास, निद्रा, तन्द्रा का अनुभव होता है, यह ठीक नहीं। भूख प्यास क्या है ? आत्मा सुख-दुख भोक्ता नहीं, इस विषय में आपको मैं उन्हीं महर्षि ऋभु और निदाघ का एक अत्यन्त ही मनोरञ्जक उपाख्यान सुनाता हूँ, उसे आप ध्यान पूर्वक सुनें।"

भगवान् ऋभु ब्रह्माजी के पुत्र थे और निदाघ उनके भाई पुलस्त्य के पुत्र थे। पुलस्त्यजी ने निदाघ को ऋभुजी के पास पढ़ने भेजा। पढ़-लिखकर समावर्तन कराकर वे अपने घर चले

गये और देविका नदी के किनारे वीरनगर नामक पुर में जाकर गृहस्थ धर्म का पालन करते हुये रहने लगे। महामुनि निदाघ ने अपने अनुरूप एक सुन्दरी भार्या का पाणिग्रहण किया और उसके साथ अग्निहोत्र आदि पञ्चयज्ञों को नित्य करते हुए सुखपूर्वक काल यापन करने लगे। इस प्रकार हजारों वर्ष हो गये।

शिष्य समर्थ हो जाने से गुरु को भले ही भूल जाय, किन्तु गुरु तो शिष्य को नहीं भूल सकते। एक दिन उन दयालु आचार्य ने सोचा—"चलकर देखना चाहिये, निदाघ को ज्ञान हुआ या नहीं।" यह सोचकर वे वीरनगर की ओर चल दिये।

गृहस्थी का धर्म है, कि जब घर में रसोई तैयार हो जाय, बलिवैश्वदेव करके अन्न को भगवान् के लिये निवेदित करके, कुछ देर द्वार पर अतिथि की प्रतिक्षा में बैठा रहे, कोई अतिथि आ जाय, तो पहिले उसे भोजन कराके तब स्वयं भगवान् का प्रसाद सन्त महात्माओं का बचा हुआ नैवेद्य पावे।

निदाघ मुनि भी बलिवैश्वदेव करके द्वार पर किसी अतिथि की प्रतीक्षा में बैठे थे, इतने में ही आचार्य ऋभु वहाँ आ गये। बहुत दिन की बात हो गई थी, ऋभु मुनि भी अपने को छिपाकर वृद्ध ब्राह्मण का वेष बनाकर आये थे अतः उन्हें पहिचान न सके थे। आज इतने तेजस्वी तपस्वी अतिथि को पाकर निदाघ मुनि परम सन्तुष्ट हुए। जैसा अतिथि का सत्कार करना चाहिये वैसा सत्कार करके श्रद्धा से उनके पैरों को धोकर हाथ जोड़कर निदाघ मुनि ने कहा—"प्रभो! मेरे घर में जो कुछ रूखा सूखा अन्न है उसे ग्रहण करें।"

नाक भौं सिकोड़ वृद्ध ब्राह्मण बोले—"विप्रवर! रूखे सूखे अन्न में तो मेरी रुचि है नहीं। क्या है तुम्हारे घर में?"

हाथ जोड़कर निदाघ मुनि बोले—"भगवन्! मेरे घर में

दाल बनी है। रोटी है, महेरी है। सत्तू भी रखे हैं नीवार के चावल भी हैं। आपको जो प्रिय हो वही खावें।"

यह सुनकर वृद्ध ब्राह्मण बोले—"द्विजवर! तुम देखते नहीं, मैं बूढ़ा हूँ, मुख में एक दाँत भी नहीं। फिर इन रूखी सूखी वस्तुओं से मेरी तृप्ति नहीं होने की। यदि कुछ बढ़िया माल खिलाओ तो खायँ, नहीं तो किसी दूसरे घर का द्वार खट-खटावें।"

धर्म के रहस्य को जानने वाले निदाघ मुनि भोजन के समय ऐसे योग्य अतिथि को अपने द्वार से भूखा कैसे लौटा सकते थे, अतः बड़ी विनय के साथ बोले—"हे विप्रवंशावतंस! हे द्विजोत्तम! आप यह कैसी बात कर रहे हैं आप आज्ञा दें वही तत्क्षण तैयार हो सकता है।"

वृद्ध अधिकार के स्वर में बोले—"अब हम तुम्हें क्या बतावें। जो भी तुम्हें लुचलुचे, स्निग्ध हृद्य मधुर सुन्दर स्वादिष्ट पदार्थ प्रतीत हों, उन्हें शीघ्रता से बनाओ।"

इतना सुनते ही निदाघ अपनी धर्मपत्नी के पास पहुँचे और बोले—"देवि! आज ही तुम्हारी परीक्षा है। कहीं अरण्य से कोई बहुत बड़े तेजस्वी तपस्वी महात्मा आये हैं। प्रतीत होता है अरण्य के कड़वे, कसेले, कच्चे नीरस फलों को खाते-खाते उनका चित्त ऊब गया है, वे उत्तम सुन्दर स्वादिष्ट मनोहर पदार्थ खाना चाहते हैं। इसलिये तुम जो भी उत्तम से उत्तम पदार्थ बना सकती हो, बनाओ! देखो, इतने योग्य अतिथि हमारे घर से निराश होकर मध्याह्न के समय लौट गये, तो आज तक के हमारे समस्त तप तेज नष्ट करके चले जायँगे।"

निदाघ मुनि की स्त्री धर्मचारिणी और पतिपरायणा थी। दूसरी कोई फूहरिया कर्कशा होती तो कह देती—"भाड़ में गये मुनि और चूल्हे में गया उनका स्वाद। मेरे घर जैसा भोजन बना

है वैसी उनकी हजार बार इच्छा हो तो खायँ, नहीं अपना रास्ता पकड़ें। साधु होकर दूसरे के घर में ऐसा प्रस्ताव करते उन्हें लाज नहीं आती ? मेरे घर में कुछ नहीं। नीवार का भात है सूखी रोटी है। खायँ तो खिला दो नहीं वे नौ दो ग्यारह हों।" किन्तु सती साध्वी पतिपरायणा मुनि पत्नी ऐसी ओच्छी बातें कैसे कह सकती थीं। उन्होंने बड़े विनय से कहा—"मेरा अहोभाग्य ! आप इतना करें मेरे समीप के घर में जो मेरी सखी उतथ्य मुनि की पत्नी है उससे तनिक कह आवें, वह अभी केले लेकर मेरे पास आ जाय।"

मुनि ने शीघ्रता से अपनी पत्नी का सन्देश उतथ्य मुनि की पत्नी से कह दिया। वह अपनी सहेली का सन्देश सुनते ही केले लेकर शीघ्रता से आ गई। इसे देखते ही निदाघ पत्नी खिल उठी और बड़े उल्लास से बोली—"बहिन ! आज मेरे घर में बड़ा उत्कृष्ट श्राद्ध है, मेरे काम में हाथ बटाओ। शीघ्रता से इन केलों को उबालने रख दो और बटलोई में दूध डालकर खीर बनाओ बड़ी सुन्दर।"

इतना सुनते ही सहेली ने शीघ्रता के साथ हाथ पैर धोकर रसोई में प्रवेश किया उसने चूल्हों में झट से आग जलाई, जब तक निदाघ पत्नी दो कढ़ाई मलकर ले आई। खीर को बरोसी पर चढ़ाया। एक चूल्हे पर केले उबाले दूसरे पर सुन्दर-सुन्दर पतले-पतले मालपुए छुन्न-छुन्न करके सिकने लगे घी की सुगन्ध से सम्पूर्ण घर भर गया। इतने में ही केले उबल गये, उनको मथकर उसका कुछ हलुआ बनाया कुछ की पकौड़ी बनाईं कुछ पूड़ियों में मिला दिया जिससे पूड़ियाँ अत्यन्त मृदु हों पोपले मुख से भी खाई जा सकें। केला के हलुए के अतिरिक्त कुछ आटे का भी हलुआ बनाया। बात की बात में खीर, पूड़ी, मालपूए, पूड़ियाँ दो प्रकार के हलुआ। सुन्दर रसीले कई साग,

पकौड़ी, अचार, रायते, तैयार हो गये। अपने पति से शीघ्रता से पत्नी ने कहा—"सुनते हो! अतिथि को ले आओ भगवान् का प्रसाद तैयार है। शालग्राम भगवान् का सिंहासन भी उठाते लाना सबमें तुलसी दल छोड़ दो, बड़ी देरी हो गई।"

पत्नी की यह बात सुनते ही निदाघ मुनि भगवान् का सिंहासन लाये। सब में तुलसी दल छोड़ा और वृद्ध ब्राह्मण के समीप हाथ जोड़कर कहने लगे—"ब्रह्मन्! पधारिये प्रसाद तैयार है। वृद्ध ब्राह्मण ने आश्चर्य के साथ कहा—"इतनी शीघ्रता से कैसे फिर से प्रसाद बन गया ? अच्छा चलो चलें।" यह कहकर वे उठ पड़े। निदाघ मुनि ने उनके चरण धोये सुन्दर आसन पर बिठाकर पूजा की और बड़े से थाल में सब सजाकर उनके सम्मुख रखा।"

ब्राह्मण बहुत वृद्ध थे। अतः निदाघ पत्नी ने उनसे पर्दा नहीं किया, वह पंखा लेकर मुनि के समीप बैठ गईं और सब वस्तुओं को बार-बार पूछने लगीं। अतिथि को चाहिए कि जिसके घर भोजन करने जाय, उसके यहाँ जो पदार्थ बने हों, उन पदार्थों की और उनको बनाने वाली की खूब प्रशंसा करे। अपनी बनाई वस्तु की प्रशंसा सुनकर स्त्रियाँ बड़ी प्रसन्न होती हैं। अतः वे वृद्ध ब्राह्मण बार-बार कहने लगे—"वाह! पदार्थ कैसे सुन्दर बने हैं। इतनी शीघ्रता में इतने बन गये, मानों मन्त्र से बना लिये हों। इतनी मुलाइम पूड़ियाँ तो हमने नहीं देखीं। इनमें तो दांतों की आवश्यकता ही नहीं।"

मन-ही-मन प्रसन्न होती हुई निदाघ पत्नी कहने लगीं—"बाबाजी! इनमें तनिक उबाल कर पीसकर केला मिला देने से और घी का मोंमन डाल देने से ये मृदु भी हो जाती हैं और खस्ता भी। मैंने सोचा आप बूढ़े हैं।"

वृद्ध बोले—"हाँ बेटी! तू बड़ी सुतेमन है।" केले के हलुए

को खाते हुए मुनि बोले—"हलुआ तो बड़ा ही स्वादिष्ट है, किस वस्तु से बना है ?"

निदाघ पत्नी बोली—"बाबाजी ! यह केला का हलुआ है। पपीता का इससे भी सुन्दर बनता है। आज शीघ्रता में कुछ बना न सके। कल आप और विराजें तो सब वस्तुएँ सुभीते से सुन्दर बनाकर खिलाऊँ।"

हँसते हुए वृद्ध ब्राह्मण बोले—"अरी, बेटी ! हम तो रमते राम हैं, आज यहाँ कल वहाँ। ये ही तैंने बड़े सुन्दर पदार्थ बनाये।" फिर समीप में बैठे निदाघ मुनि से कहने लगे—"निदाघ भैया, तुम बड़े भाग्यशाली हो, जो तुम्हें इतनी सुशीला सुन्दरी सब कार्यों में दक्षा सती साध्वी सर्वगुण सम्पन्ना बहू मिली। मन के अनुकूल पत्नी बड़े पुण्यों से प्राप्त होती है।"

निदाघ मुनि मन-ही-मन प्रसन्न हो रहे थे, वे बार-बार सोच रहे थे—"आज मेरा विवाह करना सफल हो गया। इसी गृहस्थी में नित्य पाप-ही-पाप हैं। चूल्हे में, चक्की में, खेती व्यापार तथा द्रव्योपार्जन में पाप-ही-पाप हैं। यही एक गृहस्थ में सबसे बड़ा पुण्य है, कि इसमें अतिथि की सेवा हो सकती है।"

जिस घर में अतिथि पूजन नहीं, वह कूकर, सूकर के रहने को खोह है, जिस पत्नी ने अपने शील स्वभाव सदाचार तथा सद्‌गुणों से सम्माननीय अतिथि को सन्तुष्ट कर दिया, भूखे की आत्मा को मिष्ट भोजन और मीठे वचनों से तृप्त कर दिया, वही वास्तव में पत्नी गृहणी कहलाने योग्य है। जो अतिथि अभ्यागत को देखकर जल जाय, जो महापुरुषों की सेवा को इल्लत समझे वह तो चाण्डाली है, ऐसी पत्नी के साथ स्वार्थी कामी पुरुषों को छोड़कर कौन धर्मात्मा सद्‌गृहस्थ एक रात्रि भी रहने का विचार करेगा। अहा ! मैं धन्य हुआ; कि मेरी पत्नी के द्वारा आज एक अत्यन्त योग्य अतिथि परम सन्तुष्ट हुआ।"

यह सब सोचकर निदाघ मुनि बड़ी विनय के साथ कहने लगे—"भगवान्! यह सब आप गुरुजनों के आशीर्वाद का ही फल है।"

महामुनि ऋभु ने यथेष्ट खीर सपोटी, खूब पूड़ियाँ उड़ाईं। कई बार हलुए के पात्र को खाली किया। जब पेट भर के भोजन कर लिया और वार-बार आग्रह करने पर भी जब वे सिंह गर्जन की भाँति मना करते रहे, तब निदाघ ने परसना बन्द किया। उठकर हाथ पैर धुलाये। मुख शुद्धि के लिये लँवग, इलायची, हरीत आदि दीं। जब ब्राह्मण भर पेट भोजन कर चुके, तब उन्हें उनके लेटने के लिये एक सुन्दर-सी शैया सजाई गई। मुनिवर उस पर सुखपूर्वक लेट गये। निदाघ उनके शनैः-शनैः पैर दबाने लगे।

प्राचीन परिपाटी थी, भोजन के समय अतिथि कोई भी आ जाय, उसका बिना परिचय पूछे सत्कार करते थे जब वह भोजन आदि से निवृत्त हो जाता, तब उससे प्रेमपूर्वक उसका परिचय पूछते। निदाघ मुनि ने बड़े शिष्टाचार के सहित पैर दबाते हुए पूछा—"ब्रह्मन्? आपने भली-भाँति पेट भर के भोजन तो किया? इन सुस्वादु पदार्थों से आपकी तृप्ति तो हुई न? इन पदार्थों से आपका अन्तःकरण प्रसन्न हुआ न? आप इस समय कहाँ से आ रहे हैं? कहाँ जायेंगे? आप कहाँ के रहने वाले हैं?"

यह सुनकर महर्षि ऋभु बोले—"देखिये, मुनिवर! भूखे आदमी की खा कार तुष्टि होती है। मैं तो भूख प्यास से सर्वथा निवृत्त हूँ। जब मुझे भूख प्यास है ही नहीं तो मैं कुछ खाता भी नहीं, तब आपका प्रश्न व्यर्थ है। यह सुनकर निदाघ मुनि ने सोचा—"देखो ये ब्राह्मण कितनी तो खीर सपोट गये अब कहते हैं, कि मैंने खाया ही नहीं। मैं भूख प्यास से रहित हूँ।"

अपने भाव को छिपाते हुए मुनि बोले—"जब आपको भूख प्यास थी ही नहीं, तो इतना अन्न कैसे खा गये, इतना जल कैसे पी गये ?"

यह सुनकर वृद्ध शीघ्रता से उठकर बैठ गये और बोले—"देखिये मुनिवर ! इन पार्थिव धातुओं में जब ऊष्मा बढ़ जाती है, तो शरीर में क्षुधा उत्पन्न होती है। इसी प्रकार जल तत्व के क्षीण होने से तृषा—प्यास लगने लगती है। ये सब प्राण के धर्म हैं। मुझमें इनका लेश भी नहीं। जिसे क्षुधा तृषा लगती है, वही खाता पीता है, उसी को खाने से तृप्ति होती है। मन जब स्वस्थ हो जाता है तब तुष्टि का अनुभव होता है। इसलिये ब्रह्मन् ! जिसका चित्त हो, जिसकी तुष्टि हुई हो, उससे पूछिए। मुझे न हर्ष था, न शोक, न मैं अस्वस्थ था, न अब स्वस्थ हुआ। मैं तो आत्मस्वरूप हूँ। नित्य तुष्ट हूँ, मुझे तुष्टि के लिये किन्हीं बाह्य पदार्थों की अपेक्षा नहीं।"

अब आपने पूछा - "कहाँ रहते हो ? कहाँ से आये हो ? कहाँ जाओगे ? सो इनका भी उत्तर सुनो। यदि मैं कहीं न होता तो एक स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान पर जाता। आत्मा तो आकाश की भाँति सर्वव्यापक है। उससे आना जाना बनता ही नहीं। तुम बार-बार कह रहे हो मैंने यह किया, आप कहाँ से आये यदि हम या अन्य पृथक होते तो बताते। मैं तू वह सब एक ही हैं। आत्मा में तो द्वैत का लेश भी नहीं। आपने पूछा इन मीठे पदार्थों से आप प्रसन्न हुए होंगे ? सो मीठे क्या ? कड़वे क्या ? पदार्थ सभी पंचभूतों से बने हैं, पार्थिव हैं, पृथ्वी के विकार हैं। आज जिसे आप मीठा कहते हैं, कल वही कड़वा हो जाता है। आज जो कड़वा है, कल किसी कारण से मीठा हो जाता है। मुझे तो इनमें अणु मात्र भी भेद नहीं दिखाई देता। गेहूँ, जौ, चावल, मूँग, उड़द, घी, तेल, दूध, दही, चीनी, गुड़,

फल,फूल, साग सभी तो पृथ्वी से उत्पन्न होते हैं, अन्त में फिर पृथ्वी रूप हो जाते हैं। देह भी पार्थिव पदार्थों से बना है, इसकी रक्षा के लिये पार्थिव वस्तुएँ इसमें मुख द्वारा डालते रहते हैं। जैसे मिट्टी के बने घर को दूसरी मिट्टी से लीपते पोतते रहते हैं। घर भी मिट्टी का बना है। जिससे पोतते हैं वह भी मिट्टी है, केवल नाम रूप का अन्तर है। घर काली मिट्टी का है। पोतते हैं सफेद मिट्टी से। उसे काली मिट्टी कहते हैं। इसे चूना कहते हैं। नाम रूप निकाल देने से केवल मिट्टी ही तो है। जिसके मन में अच्छे बुरे अनुकूल-प्रतिकूल का भेद भाव है, उसे बार-बार जन्मना मरना पड़ता है जिसका मन सबसे सम हो गया है, वह आत्मरूप शुद्ध, बुद्ध मुक्त हो गया है। ब्रह्मन्! आप अपने चित्त को समता में स्थिर कीजिये। इस दृश्य प्रपंच को माया मात्र समझकर सत्चित् आनन्दस्वरूप ब्रह्म में ही स्थित रहिये।"

इतना सुनते ही निदाघ वृद्ध मुनि के पैरों पर पड़ गये और बोले—"ब्रह्मन्! अवश्य ही आप मेरे आचार्य भगवान् ऋभु हैं। उनके अतिरिक्त मेरे ऊपर इतनी अहैतुकी कृपा और कौन कर सकता है ?"

हँसकर ऋभु मुनि ने कहा—वत्स ! तुम्हारा अनुमान सत्य है तुम्हारे स्नेह के वशीभूत होकर मैं तुम्हें उपदेश देने ही आया था तुम इस मिथ्या प्रपंच में सतबुद्धि कभी मत करना। इतना कह कर महर्षि ऋभु निदाघजी को आशीर्वाद देकर चले गये।

जड़ भरतजी राजा रहूगण से कह रहे हैं—"राजन्! यही परमार्थ का गूढ़ उपदेश है। अब रही राजा प्रजा की बात, सो यह तो व्यवहार में संकेत के लिये मान लिया गया है। आत्मा में कोई भेद भाव नहीं। जो अनित्य सम्बन्ध है वह नाशवान् है क्षण भंगुर है। उसका नित्य आत्मा के साथ लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं। ज्ञानी लोग इस भेद भाव को नहीं मानते। न इन

संसारी सम्बन्धों में आसक्ति करके किसी का मान अपमान करते हैं। अजी, अपने से कोई पृथक् हो, तो उसका सत्कार तिरस्कार करें भी। आत्मा तो भेद भाव से रहित है। राजन्! यह सब मन ने भेद भाव की कल्पना कर रखी है। पहिले आप इस मन को वश में कीजिये। संसारी व्यवहारों से मन को हटाइये। अपने यथार्थ स्वरूप में मन को लगाइये, तब यह जो दृश्य प्रपंच है स्वयं ही विलीन हो जायगा।"

श्रीशुक कहते हैं—"राजन् इतना कहकर महामुनि जड़ भरत चुप हो गये। अब राजा इस मन के सम्बन्ध में सोचने लगे।

छप्पय

मूरख जड़मति पुरुष देहकूँ आत्मा मानें।
छुधा तृषातें दुखित पुरुष होवै जिह जानें॥
आत्मा तो निस्संग सर्व व्यापक अज अच्युत।
सदा रहै निर्लेप ब्रह्म है जाहि ब्रह्मवित॥
जब तक गुणमय रहे मन, चौरासी चक्कर भ्रमै।
विषयनितें मुख मोरि जब, निरगुन होवै तब थमै॥

—:०:—

बन्ध मोक्ष में मन ही कारण है

[३३८]

गुणानुरक्तं व्यसनाय जन्तोः

क्षेमाय नैर्गुण्यमथो मनः स्यात् ।

यथा प्रदीपो घृतवर्तिमश्नन्,

शिखाः सधूमा भजति ह्यन्यदा स्वम् ॥

पदं तथा गुणकर्मानुबद्धम्,

वृत्तीर्मनः श्रयतेऽन्यत्र तत्त्वम् ॥*

(श्रीभा० ५ स्क० ११ अ० ८ श्लोक)

छप्पय

आँख, कान, त्वक, नाक, जीभ ज्ञानेन्द्रिय जानो ।
हाथ, पैर गुद्शिश्न, वाक कर्मेन्द्रिय मानो ॥
अहंकार के सहित वृत्ति सब मन की भाई ।
पञ्च कर्म तन्मात्र देह आधार कहाई ॥
अगणित मन की वृत्ति हैं, तिनतैं जग बन्धन भन्यो ।
मोह नाश जब ह्वै गयो, तब सब जग हरि ही बन्यो ॥

---

* जड़ भरतजी राजा रहूगण से कहते हैं—"राजन् ! विषयासक्त मन व्यसनों में डालने वाला, फँसाने वाला तथा विषय हीन हुआ मन कल्याणप्रद मोक्ष को देने वाला होता है । जैसे घी की भीगी बत्ती को खाने वाला दीप धूम सहित अग्नि शिखा को धारण करता है । जहाँ

सब खेल मन का ही है। मन के हारे हार है मन के जीते जीत, यह लोकोक्ति सत्य है। जब तक मन इन संसारी विषयों में भ्रमवश सुख मानकर भटकता रहेगा, तब तक उसे परमपद की प्राप्ति नहीं हो सकती। जहाँ यह मन विषयों से विरक्त हुआ, तहाँ इसकी जड़ता नष्ट हुई। फिर यह आकाश स्वरूप ब्रह्म में तन्मय हो जायगा। मेरा तेरा अच्छा बुरा, ऊँचा-नीचा, दुख-सुख आदि द्वन्द्वों की कल्पना इस मन ने ही तो कर रखी है। जहाँ मन से यह मिथ्या कल्पना निकली नहीं कि फिर कुछ नहीं है। अँधेरे में तम के कारण मन में भय वश एक भ्रम होता है कि सामने भूत खड़ा है। मन में भूत का भाव आते ही उसके काल्पनिक लम्बे हाथ, मुड़े हुए पैर, बड़ी-बड़ी आखें, तीक्ष्ण दाँत सब दिखाई देने लगते हैं। बहुत से चिल्ला उठते हैं, 'अरे भूत खड़ा है।' यह सुनते ही कोई बुद्धिमान प्रकाश लेकर दौड़े आते हैं, पूछते हैं—कहाँ है भूत ? तब वह कहता है—"अभी-अभी आया था, आपको देखकर भग गया। यथार्थ में ज्ञान दृष्टि से सोचा जाय तो न तो भूत बाहर से आया था न कहीं अन्यत्र चला गया। मन से ही उत्पन्न हुआ था, मन में ही विलीन हो गया। मन ही कल्पनामयी सृष्टि रचता है। स्वयं ही उसमें सुखी-दुखी होता है। उसी के द्वारा शुद्ध बुद्ध जीवात्मा भी जन्मता मरता-सा दिखाई देता है। यदि मन विषयाभिमुख न हो, तो जीव को न कोई बन्धन है न साधन, वह तो नित्य मुक्त है ही।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब जड़ भरतजी ने तत्वज्ञान का उपदेश देते हुए राजा रहूगण को यह बताया, कि

घी समाप्त हुआ, कि वह व्यष्ठि अग्नि अपने समष्टि अग्नि तत्व मे लीन हो जाता है। इसी प्रकार गुण और कर्मों में अनुबद्ध हुआ मन संसार की वृत्तियों से युक्त हुआ ससार का सृजन करता है और गुण कर्मों से हीन होने पर अपने कारण महान् तत्व में विलीन हो जाता है।"

यह सब मानसिक ही सृष्टि है, मन ही तीनों गुणों से युक्त होकर इन ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों के द्वारा शुभाशुभ कर्म कराता है। तब राजा ने पूछा—"भगवन्! मन कैसे इस प्रपंच की रचना करता है? इसकी वृत्तियाँ कौन-कौन सी हैं? इसका आधार क्या है? इन सब बातों को मुझे स्पष्ट समझावें।"

यह सुनकर श्रीशुक कहने लगे—"राजन्! जब तक तुम स्वर्गीय सुखों को ही सब कुछ समझते रहोगे, कर्मकाण्ड में ही फँसे रहकर सकाम कर्मों के द्वारा स्वर्ग प्राप्ति का प्रयत्न करते रहोगे, तब तक आपको रागादि दोषों से रहित विशुद्ध तत्व ज्ञान की अभिव्यक्ति होना अत्यन्त ही कठिन है। जब तक ये अमृत-पान, विमानों में अप्सराओं के साथ विहार, नन्दनकानन में गन्धर्वों का गान, देवाङ्गनाओं का नृत्य, अम्लान पुष्पों की दिव्यगन्ध आदि स्वर्गीय भोगों में अनित्यता प्रतीत न होगी, इन्हें स्वप्न सुख के समान मिथ्या और त्याज्य न माना जायगा, तब तक उस पुरुष को ब्रह्मज्ञान कराने में कोई भी समर्थ नहीं हो सकता। महाराज! जब तक यह चित्त त्रिगुणमय है, तब तक वह अपने अधीन हुई इन इन्द्रियों से अच्छे बुरे कार्यों को कराता ही रहेगा। ११ इन्द्रियाँ और पंचभूतों से युक्त होकर तथा शरीर की उपाधि को धारण करके मन जीव को एक योनि से दूसरी योनि में भ्रमाता रहता है।"

यह मन ऐसे ही है, जैसे बीज में जनन शक्ति। बीज को भून डालिये, तो उसकी सृजन करने की शक्ति महा शक्ति में लीन हो जायगी, फिर उसमें आप लाख पानी दें, खाद दें, उससे अंकुर न होगा। इसी प्रकार जब तक देहाभिमानी जीव से संयुक्त हुआ यह मायामय अन्तरात्मा विषयासक्त रहता है, तभी तक जागने और सोने पर स्थूल सूक्ष्म व्यवहारों को करता रहता है। संसार चक्र को बढ़ाता रहता है, उत्तम, मध्यम अधम योनियों में

जीव को भ्रमाता रहता है। जहाँ इसकी विषय वासनायें भुनी नहीं, कि फिर वह शान्तिमय मोक्ष पद की प्राप्ति करा देता है, फिर इसमें संसार सृजन की शक्ति रह नहीं जाती।

राजा ने पूछा - "भगवन्! यह कैसे हो सकता है। एक ही मन दो विपरीत काम कैसे कर सकता है? आम के पेड़ से तो आम ही उत्पन्न होंगे। जब मन का स्वभाव ही विषयों में आसक्त होना है, तो फिर मोक्ष मार्ग की ओर कैसे बढ़ सकता है!"

इस पर जड़ भरतजी बोले—"राजन! यह मन तो जड़ है चैतन्य की सत्ता को लेकर देहाभिमानी जीव को सुख-दुःख भुगाता है। सात्त्विक, राजस और तामस इन तीनों गुणों और इनके शुभाशुभ कर्मों में आसक्त हुआ मन संसार में फँसाने वाली बहुत-सी वृत्तियों को उत्पन्न करके वंशवृद्धि करता रहता है। जहाँ इन गुणों से अलग हुआ, कि फिर अपने कारण महत्तत्त्व में विलीन हो जाता है।"

राजा ने कहा—"भगवन्! यह तो आप गोल मटोल बातें कह गये। मेरी समझ में तो यह बात आई नहीं।"

हँसकर जड़ भरतजी बोले—"महाराज! यह गूढ़ ज्ञान तो है ही। गुड़ का पूआ तो है नहीं, जो उठाया गप्प से खा गये, जब तक ध्यान पूर्वक समाहित चित्त से आप समझने का प्रयत्न न करेंगे, तब तक इसे समझ ही नहीं सकते। अच्छा मैं पूछता हूँ, अग्नि तो शुद्ध निर्मल है इसमें धुँआ कहाँ से आ गया?

राजा ने कहा—"हाँ भगवन्! अग्नि में तो धूम नहीं है, किन्तु काष्ठादि के संसर्ग से उसमें धूम होता है।"

इस पर जड़ भरतजी बोले—"अच्छा इसे यों समझिये जैसे एक दीपक है, उसमें एक बत्ती है, घृत है, अग्नि है। जब तक बत्ती में घृत या तेल कोई भी स्निग्ध पदार्थ बना रहेगा, उससे जो अग्नि की लोय निकलेगी वह धूमयुक्त ही निकलेगी। आप देखते

नहीं दीपक जलता है, तो भीत काली हो जाती है, बहुत से काजल निकाल लेते हैं। जहाँ घृत बत्ती समाप्त हुई कि अग्नि अपने सत्स्वरूप महाग्नि में मिल जाती है। फिर उसमें धूम्र रहता ही नहीं। गुण और कर्म ये ही घृत और बत्ती हैं, जब तक ये रहेंगे, संसार रूप कालिख उत्पन्न होती ही रहेगी। ये जहाँ समाप्त हुए कि फिर जीव तो शुद्ध बना बनाया है ही मन अपने कारण में विलीन हो जायगा। सब प्रपञ्च समाप्त हो जायगा।"

राजा ने पूछा—"प्रभो! मन की कितनी वृत्तियाँ हैं और उनके आधार भूत कितने विषय हैं?"

इस पर जड़ भरतजी ने कहा—"महाराज! आप मन की वृत्तियों के विषय में कुछ न पूछें जैसे गोमुख में जहाँ से गंगाजी पहिले पहिल दीखती हैं, एक ही छिद्र है,किन्तु उस छिद्र से निरन्तर जलराशि निकलती ही रहती है और आगे चलके गंगाजी की अनेकों शाखायें हो जाती हैं उसी प्रकार कान, आँख, रसना, नाक और त्वचा ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये इनके पाँच विषय हैं। इसी प्रकार हाथ, पैर, गुदा, शिश्न और वाणी ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं और लेना, देना, गमन करना, मल त्याग, कामोपभोग और भाषण ये इनके विषय हैं। और मैं मेरा यह अभिमान। बस, मूल में तो मनकी ग्यारह वृत्तियाँ ही हैं। ये ही आगे सैकड़ों, हजारों, करोड़ों अरबों खरबों और असंख्यों हो जाती हैं। इन्द्रियों की आधार भूता हैं, तन्मात्रायें और अहंकार का आधार है देह। कोई-कोई आचार्य मन को पृथक् वृत्ति मान कर अहंकार को बारवाँ विषय मानते हैं। वास्तव में तो जब वह मनन करता है, तो मन कहाता है। जब अहंभाव करता है अहंकार कहलाता है, एक आदमी कंजूस अधिकारी का नौकर है, उसी से चपरासी का काम लेता, उसी से भोजन बनवाता है। तो जब भोजन बनाने लगता है उसी की

रसोइया संज्ञा हो जाती है। चपरास पहिन लेता है सिपाही हो जाता है।

यह सुनकर राजा रहूगण बोले—"भगवन्! आपने तो पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच कर्मेन्द्रियाँ और एक अहंकार ग्यारह ही मन की वृत्तियाँ बताई थीं। फिर ये सैकड़ों सहस्रों असंख्यों किस कारण से हो जाती हैं?"

इस पर जड़ भरतजी ने कहा—"देखिये, महाराज! घृत शक्कर आटा तीन ही पदार्थ हैं। इनकी कितनी मिठाइयाँ बन जाती हैं, कितने पृथक्-पृथक् नाम हो जाते हैं। इस प्रकार ये ग्यारह वृत्तियाँ द्रव्यों के द्वारा, स्वभाव के द्वारा, आशय, कर्म तथा काल के द्वारा परिणाम को प्राप्त होकर बढ़ती ही जाती हैं।"

राजा ने पूछा—"महाराज! ये सब वृत्तियाँ स्वतः कैसे हो जाती हैं?"

जड़ भरत जी अपनी बात पर बल देते हुए बोले—"राजन्! परस्पर मिलकर या स्वतः इन सबकी कोई सत्ता नहीं। महाराज! क्षेत्रज्ञ आत्मा की सत्ता से ही इनकी सत्ता है।"

इस पर बहुत सोचकर राजा ने पूछा—"प्रभो! मुझे एक बड़ी शंका है? जब इस संसार का–संसारी पदार्थों का अस्तित्व–ही नहीं तो जीवों के मन में यह आ कैसे जाता है?"

यह सुनकर जड़भरतजी खिल-खिलाकर हँस पड़े और बोले—"महाराज! अब इसका क्या उत्तर दें, आप यों समझें कि घर में सब वस्तुएँ रखी हैं अंधेरे में हम जाते हैं, कुछ नहीं दीखता केवल अन्धकार दीखता है। प्रकाश ले जाते हैं, तो सब की पृथक्-पृथक् सत्ता दिखायी देने लगती है, प्रकाश में तो वे वस्तुएँ भरी नहीं थीं, न प्रकाश से उन वस्तुओं का कोई अणु-मात्र भी सम्बन्ध है, प्रकाश के द्वारा उन वस्तुओं की केवल अभिव्यक्ति हुई है। प्रकाश हट जाने पर फिर वे दिखाई नहीं

देतीं। इसी प्रकार संसार बन्धन के हेतुभूत कर्मों को करने वाले जोव को माया रचित मन की जो ये प्रवाह रूप से सदा रहने वाली वृत्तियाँ हैं वे जाग्रत अवस्था में, स्वप्नावस्था में प्रकट हो जाती हैं, सुषुप्ति अवस्था में तिरोहित हो जातीं हैं शुद्ध साक्षी आत्मा से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है, वह केवल दृष्टिमात्र है। उसकी सत्ता से ही यह सब गोल माल हो रहा है।"

रहूगण ने कहा—"महाराज! संसार में इतना अन्याय पाप हो रहा है, भगवान् फिर इसे रोकते क्यों नहीं ? वे शुद्ध सच्चिदानन्द आनन्दघन परब्रह्म देखते हुए भी इन सब की उपेक्षा क्यों करते हैं।"

हँसकर जड़भरत बोले—"राजन् तुम इसमें यथार्थ बुद्धि करते ही क्यों हो ? अजी, यह सब तो क्रीड़ा है, लीला है, माया है। दो लड़कों ने गीली मिट्टी के हाथी, घोड़े, ऊँट बछेरे न जाने क्या-क्या बना लिये। पिता बैठा हुआ देख रहा है। एक ने किसी के खिलौने बिगाड़ दिये। वह लड़ता है— तैने मेरा हाथी बिगाड़ दिया ? तैने मेरा ऊँट क्यों ले लिया ?" पिता बैठा हँस रहा। है वह समझता है न हाथी है न ऊँट, मिथ्या कथन है। एकमात्र मिट्टी ही सत्य है जो हाथी घोड़ा ऊँट के बिगड़ने पर भी बनी रहती है।"

इसी प्रकार राजन्! इस दृश्य प्रपंच में क्षेत्रज्ञ आत्मारूप से जगत् के आदि कारण, स्वयंप्रकाश अजन्मा, ब्रह्मादि देवों के भी नियन्ता भगवान् वासुदेव ही सर्वत्र ओत-प्रोत हो रहे हैं। उनके बिना किसी की सत्ता नहीं, स्थिति नहीं, अभिव्यक्ति नहीं। जिस प्रकार वायु सभी प्राणियों के बाहर भीतर समान रूप से व्याप्त है उसी प्रकार वे प्रकृति आदि से अतीत सर्वान्तर्यामी भगवान् वासुदेव इस जगत् में भीतर बाहर व्याप्त हैं। यह जगत्

हरिमय ही है, उन्हीं की लीला का विलास मात्र है। इसे राजन्! आप भगवान् से पृथक् न समझें।

राजा ने कहा—"भगवन्! इस विपरीत वस्तुओं वाले जगत् में हम एक ही भगवान् को कैसे देखें ? इसमें तो सिंह भी हैं, गौ भी है, विष्ठा भी है मिठाई भी है। शत्रु भी हैं मित्र भी हैं।"

जड़ भरतजी ने कहा—"महाराज! बस, यही तो अज्ञान है। आप ऊपर से देखते हैं। इन वस्तुओं के भीतर प्रवेश करके देखिये। तब आपको एकत्व का ज्ञान होगा। मिठाई में क्या है, घृत है। गेहूँ का आटा है चीनी है। उसे आपने मुख के द्वारा पेट में पहुँचा दिया। रूपान्तर होने से वही बिष्ठा बन गई। खेत में जाकर उसे त्याग आये। उसी खेत में गेहूँ का पेड़ हुआ, ऊख हुई, घास हुई गौ ने खाई फिर घृत बन गया। ऊख से शक्कर बन गई, गेहूँ से आटा बन गया। फिर मिठाई हो गई। हमने भ्रम वश पदार्थों में व्यर्थ प्रियता-अप्रियता मानकर आसक्ति कर रखी है। यह अज्ञान तब तक दूर न होगा, जब तक ज्ञान का उदय न होगा। सबका संग त्यागकर, मिथ्या प्रपञ्च भूत माया का तिरस्कार करके, काम क्रोधादि छः शत्रुओं को जीतकर मनुष्य जब विवेक की शरण में न जायगा, इस आत्मा की उपाधि रूप मन को जब तक संसार दुःख का क्षेत्र नहीं समझेगा, तब तक राजन्! यह जीव यों ही संसार रूप भवाटवी में भटकता रहेगा। जीव में तो कोई दोष है नहीं। विषयासक्त चित्त के संसर्ग से अपने को भ्रमवश सुखी-दुखी मान बैठा है। इसीलिये शोक, मोह, राग-द्वेष, लोभ रोग आदि में बँधकर इस संसार में ममता बढ़ाता रहता है। इसलिये राजन्! सौ बात की एक बात यह है, कि हत्या की जड़ यह कपटी विषयासक्त मन ही है। तुम इसे वश में

कर लो, तो सब ठीक हो जायगा। यदि यह बस में न हुआ, तो फिर जो है सो तो है ही।"

राजा ने पूछा—"महाराज! कैसे वश में हो, यह मन ही तो वश में नहीं होता। उपाधियों का घर तो यही भूत है। इसका सिर कटे तब काम चले। मुझे कहीं यह मिल जाय तो इस खड्ग से तुरन्त ही इसका सिर धड़ से पृथक् कर दूँ।"

यह सुनकर जड़भरतजी हँस पड़े और बोले—"राजन्! मन कहीं बाहर थोड़े ही है। आपके भीतर ही बैठा सब व्यापार करा रहा है। इस बाहरी खड्ग से उसका सिर कट नहीं सकता। आप उस बलवान् को सहज में नहीं पकड़ सकते। यह बड़ा बली है, वायु से भी अधिक वेगशाली है। चंचलता में इसकी उपमा किसी से दी ही नहीं जा सकती। जैसे राम रावण का युद्ध राम रावण के ही समान है, जैसे समुद्र, समुद्र के ही समान विस्तृत और गम्भीर है, ऐसे ही यह मन, मन के ही समान चञ्चल है। इसे पकड़ने का एक ही उपाय है, तुम उसे करो तो मैं बताऊँ?"

राजा रहूगण बोले—"हाँ भगवन! मैं अवश्य करूँगा, आप मुझे इस संसार के बीज रूप पापी मन को वश में करने का उपाय अवश्य बतादें।"

जड़ भरतजी बोले—"महाराज! इसे वश में करने का यही एक उपाय है, श्रद्धा सहित सद्गुरु की शरण में जाओ। श्रीहरि के चरणारविन्द मकरन्द का मत्त भ्रमर बनकर निरन्तर पान करते रहो, श्रीगुरु रूप हरि की पादपद्म रूप परिचर्या के अतिरिक्त इस मन को वश में करने का दूसरा कोई सरल सुगम सर्व सम्मत उपाय है ही नहीं। भगवान् के युगल चरणों की स्मृति सभी अशुभों को नाश करने में समर्थ है। जहाँ मन रूप भ्रमर इन कमल रूप चरणों के मकरन्द का लोभी बना, तहाँ यह अपनी

सभी तिड़ी भूल जायगा। इसकी चञ्चलता नष्ट हो जायगी, इसके अति शीघ्र उड़ने वाले पंख कट जायगें। कमल तन्तु की डोरी से यह ऐसा बँध जायगा, कि फिर फड़फड़ावेगा भी नहीं, इसलिये राजन्! तुम ऐसा ही काम करो, इस शत्रु को पहिले मार डालो। तब किसी अन्य शत्रु पर चढ़ाई करने की बात सोचना। फिर सोचने की आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि सबसे प्रबल शत्रु तो यही है, इसके मरने पर फिर कोई शत्रु रह ही नहीं जायगा।"

श्रीशुक कहते हैं—"राजन्! इतना कहकर भगवान् जड़ भरतजी चुप हो गये। वे राजा के मुख की ओर देखते रहे, कि मेरी बात का इसके ऊपर कैसा प्रभाव पड़ा है।"

छप्पय

यह मन कपटी भूत जीव कूँ नाच नचावै।
देवलोक लै जाय कबहुँ पृथिवी पै आवै॥
भेद भाव करवाइ बाँधि कें जग में राखै।
जो असत्य है वस्तु ताहि सत कहि नित भाखै॥
गुरु हरि पद सेवा खड़ग, तातें मन रिपु कूँ हनों।
तब सब दुख तें छूटिकें, निरबैरी जग में बनों॥

—०—

संग का प्रभाव

(३३६)

रहूगणैतत्तपसा न याति
न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा ।
नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैं—
र्विना महत्पादरजोऽभिषेकम् ॥*

(श्री भा० ५ स्क० १२ अ० १२ श्लो०)

छप्पय

तप करि चाहै मोक्ष कालकूँ वो नर खोवै ।
केवल करिकें करम धरम सत् ज्ञान न होवै ॥
षट सम्पत्ति विवेक ज्ञान सोपान कहावें ।
विषयनितें वैराग्य ज्ञान तें मुक्ति बतावें ॥
होहि बसन वा रंग को, रँग्यो होहि जा रंग तें ।
विषय सङ्ग ते बन्ध है, मोक्ष होहि सत्सङ्ग ते ॥

---

* जड़ भरतजी राजा रहूगण से कहते हैं—"हे राजन् ! यह जो मैंने ज्ञान बताया है वह कोई चाहे कि केवल तप से प्राप्त कर सके तो नहीं कर सकता । यज्ञों से, दानों से गृहस्थ धर्मों के पालन से, वेदाध्ययन से, जल, अग्नि अथवा सूर्य आदि की उपासना से भी तब तक प्राप्त नहीं हो सकता, जब तक कि महापुरुषों की चरणरज को श्रद्धासहित सिर पर धारण न करे !"

जो अकारण कृपा करते हैं, जिनका संसार में कोई शत्रु नहीं, जिन्हें संसारी प्रतिकूलता व्यथित नहीं कर सकतीं, उन सर्वभूतों के सुहृद् संतों के प्रति हम उनके उपकारों के लिये किन शब्दों में कृतज्ञता प्रकट कर सकें। संसार में धन, ऐश्वर्य, स्त्री, पुत्र सभी को प्राप्त हो सकते हैं, किन्तु सन्त सङ्ग प्राप्त होना अत्यन्त ही दुर्लभ है। सन्त सङ्ग सबको प्राप्त नहीं होता—बड़े भाग्य से पूर्वजन्मों के अनन्त पुण्यों से महात्मा मिलते हैं, उनके चरणों में रहने का सुअवसर प्राप्त होता है। जिसे सत्सङ्ग प्राप्त हो गया, उसका संसार बन्धन कट जाता है। ऐसे सन्त यदि अनायास महान् उपकार कर दें, अहैतुकी कृपा प्रदर्शित कर दें तो प्रत्युपकार में इसके अतिरिक्त कि उनके चरणारविन्दों में प्रणाम कर लें और क्या हो सकता है। हाथ जोड़ लेना यह देवता को प्रसन्न करने की सबसे श्रेष्ठ मुद्रा है।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब जड़ भरतजी की महाराज रहूगण ने इतनी गूढ़ ज्ञान की बातें सुनी, तब तो उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उनका हृदय कृतज्ञता से भर उठा, उनके महान् उपकार के प्रति प्रत्युपकार करने की भावना हृदय में उठी, प्रत्युपकार में कौन-सी वस्तु उनके श्री चरणों में समर्पित करें। धन, धान्य, वस्त्र आभूषण, हाथी, घोड़ा आदि वाहन यहाँ तक कि मैं अपना सम्पूर्ण राज्य भी इनके चरणों में समर्पित कर दूँ तो तुच्छ है। फिर इनके लिये पृथ्वी के राज्य की बात तो पृथक् है, तीनों लोकों का राज्य, ब्रह्मलोक तक का राज्य—तृण के समान है। अतः कुछ भी योग्य वस्तु न देखकर महाराज उनके चरणों में श्रद्धा सहित प्रणाम ही करने लगे। राजा बोले—"जो ईश्वर रूप हैं, जड़ वेष बनाकर घूमते हैं, उन परमहंस शिरोमणि द्विजवर्य के पादपद्मों में श्रद्धासहित मैं प्रणाम करता हूँ। हे प्रभो? मुझ देहाभिमानी असाध्य रोगी के

लिये आपके बचन अमृत के समान हैं। जिस प्रकार अत्यन्त भूखा मनुष्य भोजन पाकर, अत्यन्त तृषित सुस्वादु शीतल जल पाकर, धूप में थका पथिक शीतल छाया पाकर, असाध्य रोगी मधुर सुस्वादु गुणकारी ओषधि पाकर, सर्प का डसा गारुणी मंत्र पाकर सुखी और प्रसन्न होते हैं, उसी प्रकार मैं आपके उपदेशामृत से कृतार्थ हो गया। भगवन्! अब आप मुझे यह बताइये कि यह मन कैसे वश में किया जाय? यह बुद्धि भगवान् वासुदेव में किन साधनों द्वारा प्रवृत्त हो। क्या करने से यह संसार बन्धन कटे। कृपा करके इसका उपदेश मुझे और दीजिये। मुझे कुछ इस बात में भी शंका रह गई कि शरीर रहते हुए श्रम आदि का बोध न होना, यह कैसे सम्भव है।"

इतना सुनते ही भरतजी को कुछ रोष-सा आ गया। वे गरज कर बोले—"अरे राजन्! तुम बड़े मूर्ख हो। भाई तुम सोचो, तुम में क्या विशेषता है। इसके अतिरिक्त कि तुम्हारा अभिमान बढ़ा हुआ है कि मैं सिन्धु सौवीर देश का राजा हूँ, राजापने का कोई काम करते, तो हम समझते भी।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जड़ भरतजी जब राजा को इस प्रकार डाँट रहे थे, तब पीछे सम्मुख वहीं बूढ़ा-सा बुद्धिमान कहार बैठा था, जो भरतजी के साथ पालकी में लगा था। उसने आँखों में ही संकेत के द्वारा भरतजी से कहा—"कुछ हमारी भी इनसे कह दो। भरतजी को क्या था, वे डाँटने लगे—"छिः छिः बड़े दुःख की बात है। कहते हो अपने को ऐश्वर्य शाली, नरपति, भूपति, प्रजापालक और काम करते हो क्रूरों के जैसे। इन विचारे कहारों को वेगार में पकड़ लिया है। तोंद फुलाकर पालकी में बैठ गये हैं, हम राजा हैं, हम राजा हैं। क्यों राजा हो जी? राजा हो पत्थर। हम तो तब राजा जानते जब इन्हें दस-दस बीस-बीस गाँव दे देते। जैसा अपना दुख-सुख

समझते हो, वैसा इनका भी समझते। दिन भर इनसे पालकी ढुलाते हो, पूछते भी नहीं तुमने कुछ खाया है या नहीं। बेगार कराके वैसे ही छोड़ देते हो। तुम्हें राजा कहने में लज्जा भी नहीं आती ? निर्दयी कहीं के। भैया, सभी पदार्थ पृथ्वी से बने हैं पार्थिव हैं। नाम रूप निकाल दो सब एक ही हैं। केवल व्यवहार में ही तो भेद है, परमार्थ में भेद के लिये अवकाश ही नहीं। विचार किया जाय तो यह पृथ्वी भी मिथ्या ही है। यह सम्पूर्ण जगत् भगवान् की माया द्वारा ही निर्मित है। माया में ही कृश, स्थूल, छोटा, बड़ा, असत्, अचेतन आदि की कल्पना है। द्रव्य, स्वभाव, आशय, काल और कर्म आदि नाम वाले भगवान् के ही ये सब व्यापार हैं।"

जो इस माया के ईश हैं, उन भगवान् वासुदेव को विशुद्ध विज्ञान स्वरूप, अद्वितीय, बाह्यान्तर भेद से रहित, व्यापक और अन्तर्मुख समझो। वे ही अत्यन्त शान्त हैं, वे ही काष्ठा हैं, वे ही परागति हैं, वे ही परमार्थ सत्य हैं। उनका ज्ञान हो जाने पर ये द्रव्य, स्वभाव, आशय, काल, कर्म सभी विलीन हो जाते हैं। यह जगत् ही नहीं रहता। भेदभाव का भूत भाग जाता है।"

राजा रहूगण ने पूछा—"प्रभो ! यह ज्ञान हो किस साधन से ?"

जड़ भरतजी ने कहा—"भैया, यह लौकिक साधनों से केवल यज्ञ, जप, अनुष्ठान, प्रभावोत्पादन, श्राद्ध तर्पण मात्र से यह ज्ञान नहीं होने का, जब तक महापुरुषों के चरण की धूलि का आश्रय न लिया जाय ?"

राजा ने पूछा—"महाराज ! महापुरुषों की चरण की धूलि का आश्रय कैसे लें ? उनकी चरण धूलि को मस्तक पर लगालें ?"

हँसते हुए भरतजी बोले—"केवल मस्तक में लगाने से काम नहीं चलेगा। राजन् ! उनकी पदधूलि में सर्वाङ्ग से लेटना

होगा। उस धूलि में स्नान करना होगा। मनसा वाचा कर्मणा उसे अपनाना होगा। उनके समीप निवास करना होगा।"

राजा ने पूछा—"महाराज! महात्माओं के समीप रहने से क्या होगा ?"

भरतजी शीघ्रता से बोले—"होगा क्या ? संस्कार बनेंगे। देखिये, सन्त जहाँ भी रहते हैं, वहाँ नित्य नियम से भगवत् कथा हुआ करती है। सन्तों के आश्रमों में इधर-उधर की विषय वार्तायें लड़ाई-झगड़े की कहानियाँ, ग्राम्य कथायें होती ही नहीं। वहाँ या तो भगवान् के सुमधुर नामों का कीर्तन होता है या भागवती कथायें होती हैं। जब उनके आश्रम में—उनके चरणों की सन्निधि में—रहेंगे, तो नित्य ही वे सुमधुर कथायें सुनने को मिलेंगी। नित्य नियम से कथा सुनते-सुनते बुद्धि शुद्ध होकर मोक्ष मार्ग की ओर प्रवृत्त होगी। यदि साधुओं का संग न करोगे, विषयियों के साथ रहोगे, तो उनके परमाणु अपने शरीर में प्रवेश करेंगे। विषयों में आसक्ति होगी, संसार बन्धन और दृढ़ होगा। संसारी लोगों से किया हुआ मोह संसार बन्धन और दृढ़ता के साथ जकड़ देता है। देखिये, मैं पहिले भरत नाम का चक्रवर्ती राजा था। राजन्! तुम्हारे नाम से तो किसी देश का नाम भी नहीं बदला। मेरे नाम से तो यह अजनाभवर्ष भारतवर्ष के नाम से प्रसिद्ध हो गया।"

यह सुनकर राजा रहूगण को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे आश्चर्य चकित होकर जड़ भरतजी की ओर देखते हुए विस्मय और विनय के साथ बोले—"अच्छा, भगवन्! आप ही पूर्व-जन्म में राजर्षि जड़ भरत थे। धन्यभाग, हम तो नित्य ही भारतवर्ष-भारतवर्ष रटते हैं! आपकी कथायें तो महाराज! हम इतिहास पुराणों में सदा सुनते रहते थे। आपकी तो सुनते हैं भगवान् में बड़ी सुदृढ़ भक्ति थी। आपकी इस संसार बन्धन से

मुक्ति क्यों नहीं हुई ? आपको यह द्विज शरीर पुनः क्यों धारण करना पड़ा ।"

जड़ भरतजी बोले—"राजन् ! मैं एक चक्कर में फँस गया था, किसी पूर्वजन्म का अन्तराय उपस्थित हो गया । मेरा दुर्भाग्य एक हरिण का रूप रखकर मेरे आश्रम में आ गया । उसमें अत्यन्त आसक्ति हो गई । मन तो एक ही है, अब तक जो भगवान् के ध्यान में लगा था, वह मृग के बच्चे में लग गया । जो आसक्ति कृष्ण चरणारविन्दों में थी, वह मृग शावक में हो गई । मैं परमार्थ से च्युत हो गया । मोक्ष मार्ग से भ्रष्ट होकर दूसरे जन्म में–मृग का ही निरन्तर ध्यान करते रहने से–मुझे मृग योनि में जन्म लेना पड़ा ।"

राजा को और भी आश्चर्य हुआ । वे बोले—"भगवन् ! आप एक से एक आश्चर्य की बात कह रहे हैं । हमें तो कल रात्रि का देखा स्वप्न भी याद नहीं रहता, आप तीन जन्म की बातें बता रहे हैं । आपको अपने पूर्वजन्मों की स्मृति अब तक बनी कैसे रही ?"

जड़भरतजी बोले—"महाराज ! भगवान् का भजन कभी व्यर्थ नहीं जाता । भगवान् के भजन का ही यह फल हुआ कि मृग योनि में भी मुझे अपने पूर्वजन्म की सब बातें याद रहीं । इसीलिये भगवत् स्मरण करते हुए मैंने मृग शरीर को त्यागकर फिर इस ब्रह्मवंश में जन्म लिया । राजन् ! यह मेरा चरम देह है । अब मेरा पुनर्जन्म न होगा । फिर भी मैं अब तक जनसंसर्ग से शंकित चित्त हुआ, असंग भाव से अपने को छिपाये हुये घूमता हूँ । मैं सबके साथ रहता हुआ भी उनमें आसक्त नहीं रहता । मेरे साथ कोई कितने दिन भी रहा हो, वह जाता है चला जाय, मेरी इच्छा हुई तब सबको छोड़कर मैं चला जाता हूँ । लौकिक काम करते देखकर मूढ़ लोग मुझे पागल कहते हैं जड़

बताते हैं, उनकी ओर मैं ध्यान नहीं देता। इन सब कार्यों को मैं भगवान् की क्रीड़ा समझता हूँ। मैं किसी को उपदेश भी नहीं देता, कोई अधिकारी ही नहीं। परमार्थ में किसी की प्रवृत्ति ही नहीं साधुओं के पास भी ये संसारी लोग जायँगे, तो उनसे पुत्र माँगेंगे, धन माँगेंगे। कोई अपने को बहुत बुद्धिमान् समझने वाले अन्य लोगों से कहेंगे—संसार के लोग तो भेड़िया धसान हैं, जिसका नाम हो गया उसे ही देते हैं। इन साधुओं के पास व्यर्थ का माल आता है। हम इसीलिये जाते हैं, कोई कम्बल ही मिल जाय, कपड़ा ही मिल जाय, और नहीं तो मिठाई फल ही मिल जाते हैं। उन मूर्खों की दृष्टि में धन, कपड़ा, लत्ता, फल, मिठाई का ही मूल्य है। ऐसे विषयासक्त पुरुषों को मैं कभी कोई उपदेश नहीं देता। जिस भावना से आये हैं, यदि वह मेरे पास है, तो ले जायँ। अधिक तो परमार्थ तत्व के अधिकारी नहीं। तुम्हें मैंने परमार्थ का अधिकारी मोक्षाकांक्षी समझकर ये बातें बता दीं।"

राजा ने कहा—"भगवन्! बड़ी कृपा की मेरे ऊपर अब मुझे सम्पूर्ण उपदेश का सार बता दीजिये। अब मुझे स्पष्ट आज्ञा दीजिये मैं कौन साधन करूँ।"

इतना सुनते ही कृपालु अवधूत जड़ भरत बोले—"महाराज! इस संसार रूप सागर को यह मनुष्य पक्षी रूप पार क्यों नहीं कर सकता। इसोलिये कि कर्म ने मोह रूप बन्धन इसके पैर में बाँध रखा है। जिस पक्षी के पैर में रस्सी बाँध देते हैं, वह अपनी परिधि के बाहर जा ही नहीं सकता। वहीं पंखों को फड़फड़ाता हुआ बंधा रहता है। महाराज! पहले तीक्ष्ण खड्ग से इस मोह रूप बन्धन को काटिये।"

राजा ने पूछा—"प्रभो! खड्ग कहाँ से मिले ?"

यह सुनकर भरतजी बोले—"अरे, साधु समागम से जो ज्ञान वैराग्य प्राप्त होता है, उसी को खड्ग बनाकर इस मोह बन्ध

का मूलोच्छेद कर दो। तब अपने यथार्थ कर्तव्य का पालन करो।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! मनुष्य का यथार्थ कर्तव्य क्या है? वह कालक्षेप कैसे करे?"

इस पर जड़ भरतजी दृढ़ता के साथ बोले—"राजन्! मैं तो मनुष्य का एकमात्र यही सर्वश्रेष्ठ और प्रधान कर्तव्य समझता हूँ, कि वह सभी कार्यों से मुख मोड़कर श्रीहरि की लीलाओं के कथन और चिन्तन से निरंतर भगवान् का ही स्मरण करता रहे। एकमात्र हरिस्मृति ही मनुष्य को समस्त आपत्ति विपत्तियों से छुड़ाकर सुखी बनाने में समर्थ है। जीवमात्र का इसी में कल्याण है, कि वह भगवान् वासुदेव को कभी भी मन से न भुलावे। उन्हीं का ध्यान, उन्हीं के नाम का कीर्तन, उन्हीं के यश का गान, उन्हीं की कमनीय कथाओं का श्रवण करता रहे। इसी में मनुष्य जन्म का साफल्य है। इसी से वह परमपद का अधिकारी हो सकता है और इन्हीं साधनों द्वारा वह संसार मार्ग को पार करके भगवान् को प्राप्त कर लेता है। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा सरल सुगम मार्ग है ही नहीं।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इतना कहकर अवधूत भरतजी चुप हो गये। राजा बिना कुछ बोले कौतूहल तथा आश्चर्य चकित दृष्टि से उनकी ओर देखते ही रह गये।"

छप्पय

संतनि के ढिँग नित्य कथा होवें भगवत की।
कृष्ण कथा तें मिटें मलिनता नित नित चित की॥
परनिन्दा अपवाद साधुजन करहिँ न कबहूँ।
त्रिभुवन पावें विभव भजन छाँड़े नहिँ तबहूँ॥
चाहे भव जलनिधि तरन, गहे संत चरननि शरन।
जग बन्धन के हेतु हैं, अधर सुधा योषित नयन॥

भवाटवी में भटकता बटोही

(३४०)

दुरत्ययेऽध्वन्यजया निवेशितो
रजस्तमःसत्वविभक्तकर्मदृक् ।
स एष सार्थोऽर्थपरः परिभ्रमन्
भवाटवीं याति न शर्म विन्दति ॥※

(श्रीभा० ५ स्क० १३ अ० १ श्लोक)

छप्पय

वनिक रूप यह जीव चल्यो सुखधन अरजन हित ।
प्रवृति मार्ग महँ फँस्यो लोभ अति बढ़्यो तासुचित ॥
इत उत भटकत फिरै राजपथ कबहुँ न पावै ।
सिंह व्याघ्र तें डरे गहन बन क्लेश उठावै ॥
वर्षा खुजली बवंडर, भूख प्यास मच्छर प्रबल ।
देहिँ क्लेश नहिँ तहँ मिले, सुन्दर भोजन मधुर जल ॥

※ जड़भरतजी राजा रहूगण से कहते हैं - "राजन ! एक जीव नामक पथिक है, जिसे माया ने दुर्गम प्रवृत्ति पथ में प्रेषित कर दिया है, वह पथ सत्त्व, रज और तमरूप नाना प्रकार के कर्मों का विभाग करने वाला है अर्थात उसमें बहुत-सी पगडंडियाँ फूटती है । वह पथिक जीव रूप बटोही बनिया धन में अत्यन्त आसक्त हुआ इस संसार रूप गहन बन में भटक रहा है, उसे वहाँ शान्ति नहीं–सुख नहीं फिर भी फँस गया है, कैसे निकले ?"

संसारी मनुष्य भी कहीं की यात्रा करते हैं, तो वहाँ के विषय में सब समझ लेते हैं। अन्य लोगों से परिचय प्राप्त कर लेते हैं, मानचित्र देखते हैं, यात्रा वृत्तान्त पढ़ लेते हैं, किन्तु यह माया मोहित जीव इस जगत् पथ में इस प्रकार आँख मूँदकर अन्धे के समान चल रहा है, कि इसे अपने गन्तव्य स्थान का पता ही नहीं। यह जानता ही नहीं, मुझे जाना कहाँ है, मैं विशुद्ध मार्ग से चल रहा हूँ, या भूलकर व्यर्थ भटक रहा हूँ। बिना सोचे चलता ही जाता है और अविवेक के कारण नाना क्लेशों को उठाता है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब महामुनि जड़ भरत ने राजा रहूगण को चुप देखा, तब वे हँसकर कहने लगे—"राजन्! चुप कैसे हो गये कुछ और पूछो। अच्छी बात है, तुम नहीं पूछते तो एक कहानी तुम्हें कहो तो बिना पूछे ही और सुना दें।"

राजा ने कहा—"भगवन्! मेरा अहोभाग्य सुनाइये, आप को कहानी भी ऐसी वैसी विषयी राजा-रानियों की न होगी आपकी कहानी में भी गूढ़ रहस्य भरा होगा। उस कहानी को आप अवश्य सुनावें।"

यह सुनकर जड़ भरतजी बोले—"राजन्! एक बड़ी अच्छी कहानी है, आप ध्यान से सुनियेगा। चित्त तनिक-भी इधर-उधर गया, तो कहानी का सब आनन्द चला जायगा, हाँ तो सुनिये—"एक बनिया था। बनिया बड़ा लोभी था। राजन्! ये व्यापारी बनिये बड़े लोभी होते हैं। कहावत है बनिये चाम दे देंगे, छदाम न देंगे। बात तो शहद से भी मीठी करेंगे, किन्तु देंगे नहीं गुड़ का डला भी। हाँ तो, वह बनियाँ धन कमाने अपने साथियों के सहित चला। चलाचल, चलाचल धर कूँच, धर मंजिल वह बहुत दूर निकल गया। एक रास्ता उसने पकड़ लिया।

उस रास्ते में बहुत-सी पगडंडियाँ जाती थीं। एक की बालू कुछ चमकीली थी। लोभी तो था ही, उसके साथी भी सब ऐसे ही थे, वे सब उधर ही चल पड़े। भूलता भटकता वह एक बहुत बड़े बन में प्रविष्ट हो गया। वहाँ उसने देखा—छः चोर हाथ में लट्ठ लिये पथिकों को लूटने को खड़े हैं, एक स्त्री उनकी नायिका है। वे दस्यु लुटेरे बड़े निर्दयी और विषय लम्पट हैं, किसी भी पथिक का शील संकोच नहीं करते। जिसे देख लेते हैं, उसी का सर्वस्व लूटकर उसे गड्ढे में गिरा देते हैं। वे चोर चुपके से इस बनिये के पीछे लग गये। उन्होंने सहसा एक साथ इसे लूटना उचित नहीं समझा। शनैः-शनैः इसका सर्वस्व अपहरण करने का उन्होंने मन में संकल्प कर लिया। आगे उसने देखा—मोटे ताजे भेड़िया भी उसके साथ हो लिये। वे भी उसके मांस के इच्छुक बन गये, कि जहाँ यह सोवे इसे चट कर जाँय। इसे कच्चा ही खा जायँ। कुछ गीदड़ भी इसी आशा से उसके साथ हो लिये। सबसे घिरा वह चिंतित लोभी बनिया आशा के वशीभूत होकर बढ़ा। आगे वन बड़ा गहन था, न वह बनिया आगे ही भली भाँति बढ़ सकता था, न पीछे ही लौट सकता था। बड़ी-बड़ी घास चारों ओर खड़ी थी। सघन लताओं तथा गुल्मों के कारण वह दुर्गम बना हुआ था। इधर-उधर बहुत से डाँस मच्छर बैठे थे जो बार-बार उड़-उड़कर उसके सम्पूर्ण शरीर में चिपटकर उसका रक्तपान कर रहे थे। कभी-कभी दूर से उसे भ्रम होता, आगे कोई नगर है, वहाँ पहुँचने पर मेरे सभी क्लेशों का अन्त हो जायगा, किन्तु वह वास्तविक नगर नहीं था, गन्धर्व नगर मिथ्या ही भ्रम उत्पन्न कर देता था। कभी-कभी आग जलती हुई-सी दिखाई देती थी, वह कभी चमचमा उठती कभी क्षीण पड़ जाती। वह सत्य अग्नि नहीं थी। अग्निवाला वेताल (उल्मुकग्रह) ही भ्रम से अग्नि

समान प्रतीत होता था।

राजन् ! वह बनिया चलते-चलते थक गया, अब वह सोचने लगा, कहाँ विश्राम करने को स्थान मिले, पीने को जल मिले, पाने को प्रसाद मिले और साथ ही नकद नारायण भी मिले, जिनके लिये भटक रहे हैं। इतने में ही क्या देखता है, एक बड़ा बवन्डर सामने से दिखाई दिया। बालू का बवन्डर होने से वह चमचमा रहा था उसी ओर बढ़ा तो आँखों में धूलि भर गई अब तो राग रञ्जित नेत्र होने से अन्धा हो गया, उस बवन्डर के चक्कर में ही फँस गया। राजन् ! तुमने कभी भभूड़ा देखा है ?

राजा रहूगण बोले—"हाँ, भगवन् ! ज्येष्ठ वैशाख की ठीक दुपहरी में एक धूलि का बवन्डर उठता है, उसमें जो आदमी पड़ जाता है वह जैसे बवन्डर नाचता है, उसी प्रकार नाचने लगता है।"

हँसकर जड़भरतजी बोले—"हाँ, हाँ राजन् ? ठीक कहा, ठीक कहा। वह लोभी बनिया भी उस बवन्डर के चक्कर में पड़कर नाचने लगा। वह उस बवन्डर में भी आगे बढ़ा जा रहा था, किन्तु चित्त में उद्वेग था। कहीं झींगुरों की झाँय-झाँय सुनाई देती, कहीं उल्लुओं का कर्णकटु शब्द। उन उल्लुओं की भयावनी बोलियों से वह भय के कारण व्यथित हो जाता, जब उसे भूख बहुत सताती तो, किसी कड़वे फल वाले काँटेदार वृक्ष का सहारा ले लेता। कभी प्यास से व्याकुल होकर चमकती हुई मृगतृष्णा को ही जल समझकर उसकी ओर भागता।"

मृगतृष्णा से प्यास न बुझते देख सूखी नदियों की शरण में आ जाता। भूख लगने से इधर-उधर समीप में ही दृष्टि दौड़ाता कहीं-कहीं वन में बाँसों के संघर्ष से दावानल लग जाती, उसी की ओर आगे बढ़ता। कभी वन जन्तु उस पर झपटते, कभी भूत प्रेत उसे डपटते, कभी कीचड़ में पैर रपटते, किन्तु पानी

का पता न लगता। कभी कोई चोर किसी गठरी को ही लेकर चम्पत हो जाता। उससे उसे बड़ा दुःख होता कभी किसी गन्धर्वपुर में क्षण भर को टिक जाता, तो सुखी हो जाता।

चलते-चलते जङ्गलों में पर्वत आ जाते उन पर चढ़ने का प्रयत्न करता। आधा तिहाई चढ़ भी जाता किन्तु काँटे कङ्कड़ पत्थर लगने से पैर छलनी हो जाते। इससे वह अत्यन्त दुखी होता। उसके साथ और भी थे वे भी विचारे दुखी थे। इसे जब भूख सताती, तो यह उनसे लड़ता, अपना क्रोध उनपर उतारता।

कभी-कभी ऐसे अजगर मिलते, जिनके काटने से आदमी मरता तो है नहीं अचेत मुर्छित-सा हो जाता है। जब ऐसे अजगर काट लेते, तो यह वन में मुर्छित हुआ पड़ा रहता, बहुत देर के पश्चात् उसकी मूर्छा भंग होती। कभी ऐसे सर्पादि जन्तु आँख में काट लेते कि अन्धा होकर कुएँ में गिर पड़ता। कभी-कभी उसे चलते-चलते पेड़ों पर लटकता हुआ मधुमक्खी का छत्ता दिखाई दे जाता। रस के लोभ से वह उसमें हाथ डाल देता, उसका उपभोग करना चाहता, तो मक्खियाँ चारों ओर से लिपट कर उसे काटने लगतीं। वह मैया री! बप्पा रे! कहकर इधर-उधर भागता। कभी शीत, उष्ण वायु तथा वर्षा से दुखी होकर इधर-उधर भागता। कभी आपस में ही लेन-देन के सम्बन्ध में लड़ाई-झगड़ा करने लगता। कभी-कभी अपनी आवश्यक वस्तुओं के लुट जाने से वह दूसरों की वस्तुओं पर मन चलाता, उनसे याचना करता। जब वे न देते तो उनसे वैर बाँध लेता, अपमान से दुखी होकर पश्चात्ताप करता। फिर भी साथी तो साथी ही हैं, उन्हें छोड़कर जाय कहाँ, अवसर आने पर उन्हीं से प्यार करने, सम्बन्ध जोड़ने को विवश हो जाता। उसके साथियों में बहुत से मर जाते, बहुत से भूले भटके इधर-उधर से आकर

मिल जाते। इस प्रकार वह मरों को छोड़ता हुआ, नवीनों को बटोरता हुआ अपने समूह के साथ खिचड़ता हुआ जा रहा था। कभी किसी पेड़ की फैली हुई सुन्दर शाखा को देख कर भुजा फैलाकर उसी से लटक जाता चिपट जाता। शाखाओं पर बैठे हुए नन्हें-नन्हें पक्षियों के कलरव को सुनकर मन्त्रमुग्ध की भाँति अपने आपे को भूल जाता। कभी सिंहों की दहाड़ सुनकर भयभीत हो जाता तो कभी कंक गिद्ध बकुला आदि के रूप पर मुग्ध होकर उन्हें पालने-पोसने लगता। जब उनके बुरे स्वभाव से मन ऊब जाता, तो उन्हें छोड़कर हंसों का साथ करने लगता, किन्तु हंसों की पवित्रता स्वच्छता से घबड़ाकर वानरों से प्रीति करने लगता। उनकी चंचलता में अपनी चंचलता मिलाकर परस्पर में कलोल करने लगता। कभी वृक्षों से लिपट जाता, कभी पर्वत-कन्दराओं में गिर जाता। उनमें रहने वाले गज जब उसे मारने दौड़ते तो किसी लता के सहारे बाहर निकलने का प्रयत्न करता। कभी बीच का बीच में ही लटकता रहता। यदि भाग्यवश गज सिंहों से बचकर गिरि गुफा से निकल आता तो आकर फिर अपने साथियों से मिल जाता। बेचारा बनिया चिरकाल से चल रहा है, किन्तु उसके पथ का ओर छोर नहीं। मार्ग का अन्त नहीं, अध्वा की समाप्ति नहीं। राजन्! बस कहानी समाप्त।"

राजा रहूगण ने आश्चर्य से कहा—"अजी महाराज! यह क्या कहानी? न इसका ओर न छोर, न सिर, न पैर। एक बनिया था, अपने समूह के साथ एक बीहड़ वन में भटकता रहा। इतनी सी बात के ऊपर आपने कितनी बड़ी भूमिका बाँध दी। यह तो भगवन्! कुछ कहानी हुई नहीं, अधूरी ही रह गई।"

हँसकर जड़ भरतजी बोले—"महाराज! यह तो

आध्यात्मिक कहानी है, कुछ प्रेम परिणय की कहानी तो है नहीं, जिसमें रसीली रङ्गीली, रसभरी मनोरञ्जक, चटपटी बातें हों ।"

राजा रहूगण ने कहा—"अजी भगवन् ! रसीली, रङ्गीली, चटपटी बात न भी हों, तो भी कथा का कुछ रूप भी तो होना चाहिये । तात्पर्य निकलता चाहिये । वह बनिया कौन है ? बीहड़ वन कौन है ? कुछ तो बताइये ।"

जड़ भरतजी शीघ्रता के साथ बोले—"राजन् ! वह बनिया तुम्हीं हो ।"

आश्चर्य के साथ राजा बोले—"भगवन् ! आप कैसी बातें कर रहे हैं । मुझे बनिया बता रहे हैं महाराज ! मैं तो शुद्ध वंश का क्षत्रिय राजा हूँ ।"

जड़ भरतजी ने उदासीनता के स्वर में कहा—"अजी राजन् । फिर वही पागलपने की बात । एक पंडितजी थे । एक यजमान के यहाँ वर्ष भर उन्होंने रामायण की कथा बाँची । वर्ष पूरा होने पर कथा सामाप्त हुई, धूमधाम से पूजन हुआ । यथेष्ट चढ़ावा चढ़ा । चढ़ावे के समान को बाँधकर पडितजी जाने लगे । गाँव के बाहर निकल गये । पीछे से यजमान दौड़ा आया—"पंडितजी ! एक बात सुनिये ।"

पंडितजी खड़े हो गये, पूछा—"क्या है सेठजी ?"

यजमान ने कहा—"महाराज ! मुझे एक संदेह रह गया । आप बहुत बार राक्षस-राक्षस कथा में करते थे । सो राक्षस रावण था या राम ?"

पंडितजी ने अपना माथा ठोका और कहने लगे—"भैया ! न राम राक्षस था न रावण राक्षस । राक्षस मैं हूँ, जो तुम जैसे बुद्धिमान् को मैंने साल भर व्यर्थ कथा सुनाई या तुम राक्षस हो, जो वर्ष भर में तुम्हारी बुद्धि में यह भी बात न समाई की कौन

राक्षस था ?" सो राजन् ! तुम अब भी न समझे कि आत्मा न ब्राह्मण है न क्षत्रिय, न वैश्य और न शूद्र। वह तो नित्य शुद्ध बुद्ध उपाधि से रहित है। ये तो देह की व्यावहारिक मिथ्या उपाधि है।"

राजा रहूगण ने कहा—"भगवन् ! आपने यह कहानी अत्यन्त ही गूढ़ भाषा में कही है। कृपा करके मुझे इसका खोल-कर भावार्थ समझा दीजिये कि वणिक् कौन हैं, गहन वन क्या है, धन क्या है, मार्ग में उसे जो नाना क्लेश हुए वे क्या हैं ? आपके विज्ञानमय वचनों को तीक्ष्ण बुद्धि वाले सूक्ष्मदर्शी कवि ही समझ सकते हैं। मुझ जैसा माया मोह में बद्ध संसारी जीव इतनी रहस्य की बातों को स्वतः समझने में समर्थ किस प्रकार हो सकता है। अतः आप इसका आधिभौतिक अर्थ बतावें।"

श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! महाराज रहूगण के इस प्रकार श्रद्धापूर्वक प्रश्न करने पर हँसते हुए अवधूत शिरोमणि भरतजी इस भवाटवी की कहानी का तात्पर्य बताने को उद्यत हुए।"

छप्पय

उठ्यो भभूरो तहाँ फँस्यो चक्कर महँ ताके।
भरीं धूरि तैं आँखि नचै संकेतहिँ वाके।।
करें कर्णकटु शब्द उलूकहु झींगुर वन में।
यक्षनितें संतप्त डरै बनिया अति मन में।।
छत्ता मधु मक्खीनि के, निरखि शहद भक्षन निमित।
कर डारत काटैं सबहिँ, पथिक होहि अति ही दुखित।।

—०—

भवाटवी का भावार्थ

[३४१]

रहूगण त्वमपि ह्यध्वनोऽस्य
संन्यस्तदण्डः कृतभूतमैत्रः ।
असज्जितात्मा हरिसेवया शितम्
ज्ञानासिमादाय तरातिपारम् ॥*

(श्रीभा० ५ स्क० १३ अ० २० श्लोक)

छप्पय

दुरगम पथ यह जगत जीव बनिया सुख धनकूँ ।
निज परिवार समूह संग लै निकस्यो बनकूँ ॥
बनीं बवंडर नारि राग--रज नेत्रनि डारें ।
मृग तृष्णा है विषय भोग दुरजन अहि मारें ॥
परनारी हैं शहद की, मक्खी मन जब ह्वै गयो ।
तबई ताको सुख सुयस, नस्यो मृतक सम नर भयो ॥

रात्रि में जब खा पीकर बच्चे अपनी माताओं के समीप

---

* श्री जड़ भरतजी राजा रहूगण से कहते हैं—"राजन् ! तुम भी इस भवाटवी में वणिक् बटोही बने भटक रहे हो। अतः अब तुम प्राणियों को दंड देने का कार्य छोड़ दो। प्राणीमात्र के प्रति मैत्री के भाव स्थापित करो, विषयों से उपराम होकर उस ज्ञान रूप खड्ग को हाथ लेकर जो हरि सेवा से तीक्ष्ण किया गया है, अति दुरूह मार्ग को पार कर जाओ।"

सोते हैं, तो परस्पर में पहेलियाँ पूछते हैं। मातायें भी उनके इस कार्य में सहायता करती हैं। वह इस प्रकार होती हैं, एक बच्चा पूछता है—

बारा था सबके मन भाया। बढ़ा हुआ कछु काम न आया।
मैं लै दीया उसका नाम। अर्थ करो या छोड़ो गाम॥

अर्थात् एक ऐसी वस्तु है कि जब वह बारा (बालक) होता है तो सबके मन को प्रसन्न करता है, जब वह बढ़ जाता है तो किसी के काम नहीं आता। मैंने उसका नाम भी ले लिया है। या तो इसका अर्थ करो, या गाँव को छोड़कर भाग जाओ।

"वह वस्तु रहती कहाँ है ? पूछने वाला कहता है, सबके घर में। लड़के बहुत-सी वस्तुओं का नाम लेते हैं, वह कह देता है नहीं। जब किसी पर उत्तर नहीं आता तो पूछने वाला बालक कहता है—"कहो हारे झख मारे।" न उत्तर आया तो हार तो गये ही। बच्चों को कहना पड़ता है, तब वह बता देता है "दिया दीपक" है। तब सब कहते हैं अरे, हाँ ठीक तो है। फिर वह पूछता है—"अच्छा बताओ।"

काठ, धातु जीवन नहीं, वाकें हाड़ न मास।
काम करे तरवार को, फिर पानी में बास॥

अर्थात् एक ऐसी वस्तु है, वह काठ की भी बनी नहीं है, धातु की भी नहीं, जीती भी नहीं, उसके शरीर में हाड़ मांस भी नहीं, किन्तु नित्य ही हजारों का सिर काटती है, और सिर काट कर पानी में ही उसका निवास रहता है। बताओ क्या है ?"

लड़के पूछते हैं—"अत्तो पत्तो बताओ" तो पूछने वाले कहते हैं—"उसके यहाँ प्रायः वह रहती है, जिसके गधे रहते हैं। लड़के बहुत सोचते हैं, सम्पूर्ण बुद्धि को लगाते हैं, किन्तु सूझता ही नहीं। तब वे भी अपनी हार मानते हैं। तब बताने वाला कह

देता है. "कुम्हारों के चाक का डोरा है। समझे। देखो, बिना हाड़ मांस के वह नित्य सैकड़ों सहस्रों बर्तनों के सिर को काटता है या नहीं। लड़के कहते हैं—"हाँ भाई, हाँ भाई ठीक है।"

इस प्रकार की बुझौअल पहेलियों से बुद्धि तीक्ष्ण होती है, ज्ञान की वृद्धि होती है, विचार शक्ति बढ़ती है, कुतूहल होता है। इसलिये देवताओं को परोक्ष-प्रिय कहा गया है। घूँघट में छिपा मुख चाहे चेचक के चिन्हों से खुतरा काला कलूटा ही क्यों न हो उसके प्रति कुतूहल सबका होना स्वाभाविक ही है। इसीलिये राजा को कुतूहल में डालने को जड़ भरतजी ने भवाटवी की पहेली कही और पूछा—"राजन्! कुछ समझे?"

हाथ जोड़कर राजा रहूगण ने कहा—"भगवन्! मैं तो आपकी रहस्यमयी पहेली का अभिप्राय समझा नहीं। आपने तो सभी का वर्णन अलंकारिक रहस्यमयी गूढ़ भाषा में किया है।"

हँसकर भरत जी ने कहा—"कहो तो हम बतावें?"

विनय के साथ राजा ने कहा—"सद्गुरु के अतिरिक्त गूढ़ ज्ञान का रहस्य और कौन बता सकता है? आचार्य के बिना दिव्य रहस्य का उद्घाटन और कौन कर सकता है। श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ के अतिरिक्त उलझी हुई गुत्थियों को कौन सुलझा सकता है। प्रभो! इस रहस्यमयी कहानी का आप ही तात्पर्य समझावें।"

यह सुनकर जड़ भरतजी बोले—"राजन्! शुभाशुभ कर्मों के द्वारा देह पाया हुआ यह जीव ही वणिक् है। प्रारब्ध की प्रेरणा से भगवान् की माया के वशीभूत होकर इस दुर्गम पथ वाले संसार रूप घोर अरण्य में यह सुख रूप धन की प्राप्ति के लिये भटकता है। परिवार, इष्ट, मित्र, सगे सम्बन्धी ही वणिक् समूह के समान इसके संगी साथी हैं। यद्यपि यह जीव रूप व्यापारी लाभ की इच्छा से व्यापार रूप कर्मों को करता है, किंतु

सर्वत्र इसे हानि ही उठानी पड़ती है, लाभ नहीं होता। संसारी विषयों में सुख कहाँ, शान्ति कहाँ, विजय कहाँ? वहाँ तो चिन्ता दुःख, हाहाकार और पराजय ही है। यदि मधु-लोलुप भ्रमर भक्तजनों के पथ का अनुसरण करे तो दिव्य गंधयुत स्वच्छ निर्मल सरोवर के समीप पहुँच जाय, जहाँ कमलों की सूँघने को सुगंध मिले, खाने को कमलनाल और कमलफल मिले पीने को स्वच्छ सुन्दर अमृतोपम जल मिले, सो तो यह करता नहीं। उलटा डांस, मच्छर तथा झींगुरों के मार्ग का अनुसरण करता है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और एक मन ये छः ही डाकू हैं। जिस प्रकार बनिये के कष्ट से उपार्जित धन को डाकू लोग निर्दयता-पूर्वक लूट ले जाते हैं, वैसे ही ये मन और इन्द्रियाँ माया मोहित जीव के परमार्थ सर्वस्व का अपहरण कर लेते हैं। जैसे खेत को प्रति वर्ष जोता बोया और निराया जाता है, फिर भी वर्षारम्भ होते ही उसमें फिर से तृण वीरुधगुल्म उत्पन्न हो जाते हैं, वैसे ही यह गृहस्थाश्रम रूप कर्म भूमि है। इसमें कभी कर्मों का अन्त ही नहीं होता, क्योंकि इन कर्मों के बीज अनादि हैं, पानी पड़ते ही पुनः पनप जाते हैं।

इस गृह रूप वन में डांस मच्छर रूप खल पुरुष रहकर इस भवाटवी के पथिक को कष्ट पहुँचाते रहते हैं। विषय भोगों को सत्य समझना यही गन्धर्व नगर है, इनसे सुख की इच्छा रखना यही मृगतृष्णा है। यह चमकता हुआ लाल-लाल लपटों वाला अगिया वैताल रूप सुवर्ण ही है, जिसके चाकचिक्य से मोहित होकर जीव लालचवश अनेक पाप करता है, इसे पाने के लिये सतत प्रत्यत्न करता रहता है।

यह कारे मूड़ वाली मृगनयनी ही बवन्डर के समान है। इसके चक्कर में पड़कर मनुष्य जीव उसी के संकेत पर नाचता रहता है। उसमें जो राग है, आसक्ति है—वही उस बवन्डर की

धूलि है। उसके नेत्रों में भर जाने से जीव अन्धा हो जाता है। उसे दिशायें दिखाई नहीं देतीं, साधु पुरुषों की मर्यादा खो बैठता है। शील संकोच लज्जा को तिलाञ्जलि दे देता है। भोज्य, पान मैथुन आदि संसारी सुखों में आसक्त हुआ वह तृप्त न होकर लालचवश मृगतृष्णा रूप मिथ्या विषयों की ओर दौड़ लगाता है, कभी अग्नि के विष्टा रूप सुवर्ण को पाने के लिये कबड्डी मारता है। कभी यह नहीं है वह नहीं है इस तृष्णा से इधर-उधर दौड़ता रहता है। असत् पुरुष ही बिना जल की नदी के समान हैं, गृहयुद्ध साथियों के साथ युद्ध है। चित्त में उठी शोकाग्नि ही दावानल के समान है। दुष्ट राजा और राज्याधिकारी ही राक्षस के समान सर्वस्व को अपहरण करने वाले हैं।

बड़े-बड़े मनोरथ, विभवशाली यज्ञ याज्ञों की वांछा ही पर्वत आरोहण के समान हैं। उनमें नाना विघ्न बाधायें ही कङ्कड़ पत्थर रोड़े और काँटों के समान हैं। निद्रा ही अजगर है। निद्रा में पड़ा मनुष्य अचेतन हो जाता है। अन्धकार में डूब जाता है। विवेक शक्ति का अचेतन हो जाता है, परस्त्री या परधन ही मधु मक्खियों का छत्ता है। जहाँ उसमें हाथ डाला नहीं कि चारों ओर से शरीर में चिपटकर काटने लगती हैं। असह्य वेदना उठानी पड़ती है। लौकिक वैदिक कर्म ही जन्म-मरण रूप बीजों को फिर से उत्पन्न करने वाले तृण के समान हैं। शीत, वायु, वर्षा ये ही आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक क्लेश हैं। राजन्! संसार ही गहन वन है, बड़ा दुर्गम है, बड़ा दुरूह है, इसमें माया की प्रेरणा से जो जीव समूह पहुँच जाता है, उसका निकलना अत्यन्त कठिन हो जाता है। महाराज! आप भी इस चक्कर में फँस गये हो। आप भी इन सभी संसारी बनियों के साथ में बनिये बन गये हैं। संसार में परमार्थ कहाँ, केवल आत्मानन्द में प्रवेश करने के अतिरिक्त

सब वणिक वृत्ति ही तो है। तू मेरा भरण कर मैं तेरी सेवा करूँ। तू मुझे प्यार कर, मैं तुझे प्यार करूँ। मैं देवता को एक फल चढ़ाऊँ, देवता मुझे इससे अनेक जन्मों में अनन्त फल दें। इस फलाशा में ही मनुष्य फल दाता सर्वेश्वर जगत्पति विश्वम्भर को भूल जाता है, अपने को ही सब कुछ समझने लगता है। माया से मोहित होकर शोक, मोह भय के कारण विवाद, रुदन, हर्ष आदि में फँस जाता है। कभी रोता है, कभी गाता है, कभी इधर-से-उधर जाता है। इस भवाटवी का अन्त नहीं। भगवद्भक्त तो इसे भगवच्चरणारविन्दों के प्रभाव से पार कर जाते हैं, शेष सभी इसमें इधर-से-उधर भटकते हुए नाना क्लेशों को उठाते हैं। राजन्! यह बात नहीं कि पृथ्वी पर ही यह बात है, ब्रह्मलोक पर्यन्त आवागमन का चक्कर है। अतः राजन्! आप मेरी उँगली पकड़िये और आप इस भवाटवी को पार कीजिये।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"हे उत्तरानन्दवर्धन महाराज? इस प्रकार जड़ भरतजी राजा राहूगण को उपदेश देकर चुप हो गये।"

छप्पय

माया मोहित जीव जाहि जहँ तहँ दुख पावें।
लखि समीप धन धाम विविध बिधि ताहि सतावें॥
पुत्र मित्र परिवार सगे सम्बन्धी आवें।
स्वारथ हित दरशाय नेह सम्बन्ध लगावें॥
जब तक जग महँ मोह है, तब तक तृष्णा बढ़ैगी।
मेड़ जहाँ पै जायगी, राजन्! तहँ तहँ मुड़ैगी॥

—०—

रहूगण और जड़ भरत संवाद की समाप्ति

[३४२]

नमो महद्भ्योऽस्तु नमः शिशुभ्यो
नमो युवभ्यो नम आ वटुभ्यः ।
ये ब्राह्मणा गामवधूतलिङ्गा—
श्चरन्ति तेभ्यः शिवमस्तु राज्ञाम् ॥*

(श्रीभा० ५ स्क० १२ अ० २३ श्लो०)

छप्पय

तजि जगको जञ्जाल जगतपति महँ मन लाओ ।
मैं हूँ सबतें बड़ो नीच तू जाहि भुलाओ ॥
यह मिथ्या संसार सत्य हैं जाके स्वामी ।
वे हैं शाश्वत सत्य सर्वगत अन्तरयामी ॥
मन बिषयनितें मोड़िकें, जगतें नातो तोड़िकें ।
हरि चरननि चित जोड़कें, राम भजो सब छोड़िकें ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब जड़ भरतजी उपदेश दे चुके, तब राजा रहूगण उनकी स्तुति करने लगे—'भगवन् ! आप जैसे ऐश्वर्य-मदोन्मत्त राजाओं का कल्याण हो । ब्रह्मज्ञानी किस रूप में रहता है, इसे कोई जान नहीं सकता । अतः बूढ़ों को नमस्कार है, बालकों को नमस्कार है । युवाओं को नमस्कार है ब्रह्मचारी से लेकर गृहस्थी बानप्रस्थी, संन्यासी सभी को नमस्कार है ।"

संतों का बचन है कि इस जग में आकर सबसे दौड़ के अभिमान छोड़ के, बड़े स्नेह से गहककर मिलना चाहिए। न जाने नारायण किस रूप में आ जायँ। नारायण सब रूप बना लेते हैं। उनके लिये निर्गुण से सगुण होने में कोई कष्ट नहीं होता और न उनके यहाँ ऊँच-नीच का भेद-भाव है। वे शूकर भी बन जाते हैं, ब्राह्मण का भी रूप रख लेते हैं। राजा बनकर जगत् का शासन भी करते हैं और बौने वामन बनकर भीख भी माँगते हैं। दाता की प्रशंसा करके उसे भी प्रसन्न करते हैं। वे बच्चे बन कर रोते भी हैं और गुरु बनकर उपदेश भी देते हैं। वे चोरी के अपराध पर स्वयं भी बँध जाते हैं और शरण में आये हुए बद्ध जोवों का संसार बन्धन छुड़ाते भी हैं। सारांश उनका कोई एक रूप नहीं, वे सर्वगत हैं, सर्वमय हैं, सभी उन्हीं के रूप हैं। एक बड़ी सुन्दर सर्व प्रसिद्ध कहानी है :—

एक सन्त भोजन बना रहे थे। बनाकर ज्यों ही रोटियों के चुपड़ने को उद्यत हुए त्यों ही एक बड़ा-सा बलवान् श्वान् आया और सब रोटियों को मुख में लेकर भागा। उन महात्मा की निष्ठा तो देखिये। भूल में भी वे उस अपकारी कुत्ते के पीछे डण्डा लेकर नहीं दौड़े। उन्हें रञ्चकमात्र भी भान नहीं हुआ कि मेरा अपकारी यह श्वान् मेरे सर्वान्तर्यामी स्वामी से पृथक है। उनकी तो नस-नस में यह भाव जमा हुआ था कि वे ही हरि करते कराते हैं, वे ही स्वयं खाते हैं। एक हाथ बटलोई दूसरे में घृत का पात्र लेकर दौड़े बड़ी विनय से आँखों से आँसू बहाते हुए दीनता के स्वर में कहते जाते थे—"नाथ! मेरे स्वामी! रूखी कैसे पाओगे। तनिक चुपड़ने दो, इस दाल को भी स्वीकार करो। हे मेरे सर्वस्व! मेरी अधूरी सेवा को ही क्यों अपनाते हो। यह भी तो आपके निमित्त बनाई है। क्या इस दाल में मेरा अहंभाव हो गया था? क्या इसमें नमक के साथ अहंकार मिश्रित हो गया था। यदि ऐसी

भूल हो गई हो, तो प्रभो ! आप सर्वसमर्थ हैं, उस अहंकार को भी पी जाओ। देखिये, आपके लिये कोई नई बात नहीं। पूतना के स्तनों में लगे जहर को भी तो आप उसके पय के साथ प्राणों के साथ पी गये थे। नाथ ! सेवक के श्रम को सफल करो।"

फिर क्या था, भावग्राही भगवान् उस श्वान के रूप को छोड़कर चतुर्भुज के रूप में प्रकट हो गये। भगवान् उनके इस भाव से अत्यन्त ही प्रसन्न हुए। भक्त कहते हैं–भगवान् प्रकट हो जाते हैं। ज्ञानी कहते हैं–प्रकट होने के लिए कहीं सप्तम आकाश से उतर कर थोड़े ही आते हैं। वे सर्वगत हैं, अणु-परमाणु में समान रूप से व्याप्त हैं। अब वे कहीं से आकर प्रकट होते हैं अवतरित होते हैं या उनके बिना किसी का अस्तित्व ही नहीं। वे ही वे हैं सर्वत्र, इस विवाद में तो हमें पड़ना नहीं। हमारा तो अभिप्राय इतना ही है कि सेवक इस संसार भर में एक ही है वह हूँ मैं। मेरे सिवाय कोई सेवक नहीं दास नहीं। मुझे छोड़कर संसार में सभी मेरे स्वामी के स्वरूप हैं। यह भावना जिसकी दृढ़ हो गई, उसके द्वारा कभी किसी का भूल में भ्रम में अपमान न होगा इस भाव के उदय होते ही वह छोटे-बड़े, कुत्ता, चांडाल, गौ गधा तथा सभी को अपने इष्ट का स्वरूप समझकर मन से वचन से तथा शरीर से भी प्रणाम करता रहेगा। इसके विपरीत जब तक अहंभाव है, दूसरों से अपनी पालकी उठवावेगा, उन्हें डाँटेगा डपटेगा, बुरा भला कहेगा। यही अज्ञानी में भेद है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं–"राजन् ! राजा रहूगण को श्री भरतजी ने ब्रह्मज्ञान का अधिकारी समझकर गूढ़ ज्ञान का उच्चातिउच्च उपदेश दिया। उस उपदेश को श्रवण करके कृतज्ञता के कारण जिसका हृदय भर गया है, ऐसा राजा रहूगण भगवान् जड़ भरतजी के प्रति अपना आभार प्रदर्शित करने लगे। उन्होंने कहा—"भगवन् ! मैं तो समझता हूँ, इन सब योनियों में मनुष्य

योनि ही श्रेष्ठ है, सब लोकों में यह भूलोक ही श्रेष्ठ है और सब मनुष्यों में मुझ जैसा ही व्यक्ति श्रेष्ठ है।"

यह सुनकर हँसते हुए जड़ भरतजी कहने लगे—"राजन्! आप इतने पुण्य से प्राप्त देवयोनियों को छोड़कर मनुष्ययोनि की ही प्रशंसा क्यों कर रहे हो? जहाँ सर्वदा दिव्यसुख प्राप्त हैं, पान करने को अमृत मिलता है, विहार करने को बहुमूल्य विमान मिलते हैं, रमण करने को मनोरमा रम्भा रमणियाँ मिलती हैं, उन स्वर्गादि लोकों को छोड़कर इस दुःखपूर्ण मृत्यु धर्म वाले मर्त्यलोक की प्रशंसा क्यों कर रहे हो? अच्छा, और बातों को जाने दो, आप अपनी इतनी प्रशंसा क्यों कर रहे हो?"

इस पर दृढ़ता के स्वर में राजा ने कहा—"भगवन्! मैं उस देवयोनि की निन्दा करता हूँ, जिसमें भोगों के अतिरिक्त सत्सङ्ग का सुअवसर प्राप्त न हो। स्वर्गादि लोकों में तो प्रायः पुण्यात्मा ही पुरुष जाते हैं। वहाँ तो वे दिव्य भोगों में ही तन्मय हो जाते हैं, उन्हें सत्संग की इच्छा ही नहीं होती, वहाँ आप जैसे सन्त जाते भी नहीं। जिस योनि में आप जैसे सरल सर्वगत सन्तों का सत्सङ्ग प्राप्त न हो, वह देवयोनि भी हेय है, और इसी प्रकार जिस लोक में आप जैसे अवधूतों का दर्शन न मिले, वह ब्रह्मलोक भी त्याज्य ही है।"

मैंने अपने को श्रेष्ठ और भाग्यवान् इसलिये कहा, कि मैं अपने पुरुषार्थ से अपने साधनों द्वारा कभी आप जैसे सन्तों को प्राप्त नहीं कर सकता। हम तनिक से भूखण्ड के नाममात्र के मिथ्या स्वामी बन जाते हैं, तभी हमें इतना अधिक अभिमान हो जाता है, कि हम अपने सम्मुख किसी को समझते ही नहीं। जहाँ सोने चाँदी की चार ठीकरी हुई नहीं कि बुद्धि भ्रष्ट हो गई। फिर अपने सम्मुख सभी को तृण समझते हैं। सब का

अपमान करते हैं, सभी को तुच्छ समझकर उनकी ओर देखने में भी अपना अपमान समझते हैं। ऐसी ऐश्वर्य रूपी मदिरा के मद में उन्मत्त हुए मुझ पामर पर भी आपने कृपा की, मेरे अपराधों की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया, तो मुझसे बढ़कर भाग्यशाली इस संसार में और कौन होगा ? जिनके ऊपर संत प्रसन्न हो जायँ, सन्त जिन्हें अपना लें, किसी भी कारण उन पर ढुलक जायँ, तो वे ही पुरुष सर्वश्रेष्ठ हैं, वे ही इस असार संसार से सदा के लिये पार हो जायँगे। नहीं तो कितने भी अश्वमेध क्यों न कर लो, कितने भी पशुओं की आहुति क्यों न दे दो, पुण्य से चाहे ब्रह्मलोक को क्यों न जीत लो, ८४ का चक्कर छूटने का नहीं। जन्म-मरण का भय लगा ही रहेगा।

जड़ भरतजी ने शिष्टता के साथ कहा—"अरे भैया ! तुम तो पहिले से ही जिज्ञासु थे, भगवद्भक्त थे। ऐसा न होता तो तुम इतना धन-ऐश्वर्य छोड़कर तत्वज्ञान की जिज्ञासा से भगवान् कपिल के चरणों में क्यों जाते ? राजन् ! युवावस्था में आदमी अंधा हो जाता है, नस-नस में काम व्याप्त हो जाता है। किसी संस्कारी भाग्यवान् की बात तो दूसरी है, नहीं तो युवावस्था पुरुष को इतना उद्दंड बना देती है कि वह सब विवेक खो बैठता है। युवक होने पर यदि उस पर धन-सम्पत्ति हुई और विवेक न रहा, तब फिर कुछ न पूछिये। गिलोय और नीमचढ़ी। ऐसे पुरुष तो संसार-बन्धन को नित्य-नित्य दृढ़ करते जाते हैं। प्रभुता में मनुष्य विवेकहीन हो जाता है। तुम अपने को इतना सम्हाले रहे, यह भगवत उपासना का ही फल है। यह संसार-जाल बड़ी दृढ़ता के साथ बुना गया है। तुम इस जाल में फँस गये हो। साधारण अस्त्र से यह जाल न कटेगा। भोथरे खड्ग से कटना असम्भव है। अतः मैंने जो तुम्हें ज्ञान-रूप खड्ग दिया है, उस पर भगवत्भक्ति-रूप सान चढ़ा लो। उसे अति तीक्ष्ण बना लो।

और फिर इस जगजाल के बन्धनों को—गुणमयी रस्सियों को काट डालो। इस सागर से पार हो जाओ। अच्छी बात है, अब हम जाते हैं।"

इतना सुनते ही महाराज रहूगण ने दौड़कर अपनी शिविका से गङ्गाजल की झारी निकाली। समीप के वृक्षों से स्वयं ही पुष्प तोड़ लिये, फल ले लिये। बड़ी श्रद्धा से उनके चरण प्रक्षालन किये, यथालब्धोपचारों से स्नेहभरित हृदय से उनकी पूजा की और अश्रु बहाते हुए हाथ जोड़कर कहने लगे—"प्रभो! मैं आपकी क्या स्तुति करूँ? आपका एक रूप तो है ही नहीं। कभी आप बालक-रूप में विचरण करते हैं। कभी युवक का वेष बनाकर अकड़कर चलते हैं, कभी लाठी लेकर वृद्ध का अनुकरण करने लगते हैं। कभी दाढ़ी जटा बनाकर चद्दर ओढ़कर मृगचर्म और दण्ड-कमण्डलु लेकर ब्रह्मचारी बन जाते हैं। कभी विवाह करके अग्निहोत्र करने लगते हैं, पुत्रों को पैदा करते हैं, धर्म का आचरण करते हैं। कभी आप गृह त्यागकर वनों में रहकर वानप्रस्थ धर्म का पालन करते हुए, कन्द-मूल-फलों पर ही निर्वाह करते हैं। पंचाग्नि तापते हैं। शीतोष्ण सहन करते हैं, अग्निहोत्र करते हैं, तपस्या में निरत रहते हैं। कभी उसे भी त्यागकर अवधूत वेष बना लेते हैं। दण्ड-मुण्डी बनकर घूमते हैं, परमहंस वृत्ति को दर्शाते हैं। न जाने किन-किन रूपों में आप घूमते हैं। आपकी गति-विधि को स्वयं कोई जान नहीं सकता। कृपा करके आप ही जिसे जनाना चाहें, वही जान सकता है। भगवन्! मेरी एक याचना है मुझ जैसे अज्ञानी, राज्यमद में मदोन्मत्त बने मोहियों के प्रति आपकी कृपा बनी रहे। उनसे आपका जो भी कुछ अपराध बन जाय, उसे आप अपने कृपालु स्वभाव के कारण क्षमा करते रहें।"

श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित् से कहते हैं—"राजन्! इस

प्रकार वे परम प्रभावशाली ब्रह्मर्षि भगवान् जड़ भरत सिन्धु सौवीर देश के राजा रहूगण को अत्यन्त ही करुणावश आत्म-तत्त्व का सारातिसार उपदेश देकर तथा राजा के द्वारा सत्कृत और पूजित होकर परिपूर्ण समुद्र के समान अपने मन की इन्द्रिय रूप तरंगों को शान्त करके इस पृथ्वी पर स्वच्छन्द होकर विचरण करने लगे। राजा रहूगण भी कृतार्थ होकर अपने देश को लौट गये। उन्होंने जड़भरतजी के उपदेश को श्रद्धा सहित हृदय में धारण किया। उसी सत्संग के प्रभाव से उन्होंने अविद्या वश जो इस देह में ही आत्मबुद्धि का आरोप कर रखा था उसे आत्मतत्त्व के यथार्थ ज्ञान के द्वारा नाश कर दिया और वे ब्रह्म-भूत हो गये। कालान्तर में जड़भरतजी भी इस द्विज चरम शरीर को त्यागकर अपने सत्स्वरूप में लीन हो गये। राजन्! यह मैंने अत्यन्त ही संक्षेप में श्री भरतजी का पुण्यमय चरित्र आपको सुनाया अब और बताइये, मैं आगे आपको क्या सुनाऊँ ?"

श्रीसूतजी कहते हैं—"मुनियो! मेरे गुरुदेव के मुख से राजा परीक्षित् भरत-चरित सुनकर अत्यन्त ही प्रसन्न हुए और फिर वे आगे के प्रसंग को चालू रखने के निमित्त भरतजी के वंश का प्रश्न करने की बात सोचने लगे।"

छप्पय

सुन्यो ज्ञान अति गूढ़ कृतारथ भये रहूगन।
मन प्रसन्न है गयो भयो पुलकित सबरो तन॥
विधिवत पूजा करी, अरघ अश्रुनि तें दीन्हों।
तब स्वेच्छा तें गमन भरत मुनिवर ने कीन्हों॥
श्रद्धा संयम सहित जे, भरत-चरित कूँ सुनिङ्गे।
ते फिरि या भव-सिन्धु महँ, भूलि कबहुँ नहिँ परिङ्गे॥

—:—

राजर्षि गय का चरित्र

[३४३]

गयं नृपः कः प्रतियाति कर्मभि-
र्यज्वाभिमानी बहुविद्धर्मगोप्ता ।
समागतश्रीः सदसस्पतिः सताम्
सत्सेवकोऽन्यो भगवत्कलामृते ।।*
(श्री भा० ५ स्क० १५ अ० ६ श्लोक)

छप्पय

भये भरत सुत सुमति देवताजित् सुत तिनके ।
तिनके देव प्रद्युम्न भये परमेष्ठी जिनके ॥
पुत्र प्रतीह महान् भये ज्ञानी तेजस्वी ।
अष्टम पीढ़ी माँहि भूप गय भये यशस्वी ॥
करमकाण्ड में कुशल अति, सर्वमान्य सब शास्त्रवित ।
गय समान को होहि नृप—धर्म-ज्ञान-नय-बिनय-युत ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"हे परीक्षित ! शुभ कर्मों में महाराज गय की समानता करने वाला कौन राजा हो सकता है । क्योंकि राजा गय भगवान् के अंशावतार थे, इसीलिये तो उन्हें छोड़कर ऐसा यज्ञों का विधिवत् अनुष्ठान करने वाला, बहुत धर्मों को जाननेवाला, धर्म का रक्षक, श्रीमान् सज्जनों की सभा के सभापति तथा सत्पुरुषों का सच्चा सेवक और कौन हो सकता है ।"

सत्कुल में उत्पन्न होने से ही मनुष्य कुलीन कहा जाता है। प्राचीनकाल में कुलीनता पर अत्यधिक ध्यान दिया जाता था। कुलीन निर्गुण भी क्यों न हो, वह भी वन्दनीय माना जाता था और अकुलीन चाहे गुणी क्यों न हो, फिर भी कुलागत आचार के अनुसार उसके गुण की तो प्रसंशा थी, किन्तु वह कुलीन गुणी के समान आदरणीय नहीं समझा जाता था। यद्यपि सत्कुल में भी क्रूर और दुष्ट लोग उत्पन्न हो जाते हैं, फिर भी सामान्यतया कुलागत कुछ-न-कुछ गुण तो आते ही हैं। इसीलिये राजा का पुत्र ही राजा बनाया जाता था, मंत्री का पुत्र मंत्री ही होगा, वैद्य का पुत्र वैद्यक ही करेगा। कलिकाल में यह प्रथा पापों की वृद्धि के कारण नहीं रही। नहीं तो धर्मात्मा पुरुषों की वंशावली सुनने का भी अनन्त माहात्म्य बताया गया है।

राजा परीक्षत् ने विनय के साथ पूछा—"हाँ, तो भगवन् आप भगवान् स्वायंभुव मनु के वंश का वर्णन कर रहे थे। आपने मनु के प्रियव्रत और उत्तानपाद ये दो पुत्र बताये। उत्तानपाद के वंश का ध्रुव से लेकर दूसरे दक्ष तक के वंश का वर्णन आपने किया। फिर महाराज प्रियव्रत के आग्नीध्र आदि सात पुत्र बताये, जो सातों द्वीपों के राजा हुए। महाराज आग्नीध्र के नाभि, किंपुरुष हरिवर्ष आदि नौ पुत्र हुए, जो नौ खण्डों के राजा हुए। महाराज नाभि के यहाँ स्वयं साक्षात् भगवान् ऋषभदेव का अवतार आपने वर्णन किया। श्रीऋषभदेवजी के भरत आदि सौ पुत्र हुए, सबमें श्रीभरतजी श्रेष्ठ थे। भरतजी के प्रसंग में आपने उनके तीन जन्मों की कथा सुना दी। भरतजी हरिण बने, हरिण से जड़ भरत बने। जड़ भरतजी का और राजा रहूगण का आध्यात्मिक सुन्दर संवाद भी इसी प्रसंग में आपने वर्णन किया। अब मैं भरतजी से आगे मनुपुत्र महाराज प्रियव्रत के वंश का वर्णन सुनना चाहता हूँ। भरतजी से आगे उनके वंश में और

कौन-कौन प्रतापशाली राजा हुए। राजा तो बहुत हुए होंगे, उन सबसे तो हमें प्रयोजन ही क्या, इनमें जो भगवद्भक्त हुए हों उनका चरित्र हमें सुनाइये।"

इतना सुनते ही श्रीशुक बड़े प्रसन्न हुए और राजा की प्रशंसा करते हुए कहने लगे—"राजन्! आप यथार्थ में सच्चे श्रोता हैं। श्रोता में यही विशेषता होनी चाहिये कि वह कथा के प्रवाह में बह न जाय, कथा के उद्‌गम को विस्मरण न होने दे। कथा में कितनी ही शाखा प्रशाखायें फूट जायँ, किन्तु मूल को न जाने दे। आपको सब कथा प्रसङ्ग याद है। अच्छी बात है, मैं भरतजी के आगे के वंश का वर्णन करता हूँ। वैसे तो मनुवंश अनन्त है, देवताओं के सहस्रों वर्षों में भी वह पूर्णरूप से नहीं कहा जा सकता, किन्तु मैं आपके सम्मुख अत्यन्त संक्षेप में उसका निर्देश मात्र कर दूँगा। इनमें जो विशेष ज्ञानी, कर्मकाण्डी या भगवद्भक्त हुए होंगे, उनके ही सम्बन्ध में कुछ साधारण-सा विस्तार करूँगा, नहीं तो नाम निर्देश ही करता चलूँगा। अच्छा तो सावधानी के साथ श्रवण कीजिये।"

श्रीभरतजी के सुमति, राष्ट्रभृत, सुदर्शन, आवरण और धूम्रकेतु ये पाँच पुत्र हुए। इस बात को तो मैं पहिले ही भरत-चरित्र के प्रसङ्ग में बता चुका हूँ इन पाँचों में सुमति श्रेष्ठ थे। वे भी ऋषभदेवजी की भाँति अवधूत दिगम्बर हुए। कलयुग में जो जैनसम्प्रदाय का प्रचार होगा, उसमें राजर्षि सुमति को ही जिन या अर्हत मानकर पूजेंगे। उन सुमति जिनके देवाजित नामक पुत्र हुए। देवाजित के देवद्युम्न, उनके परमेष्ठी परमेष्ठीके प्रतीह पुत्र हुए। जो बड़े ही धर्मात्मा और आत्मविद्या विशारद थे। वे स्वयं ज्ञानी तो थे ही, ज्ञान के उपदेष्टा तथा आचार्य भी थे। उन्होंने अनेकों पुरुषों को आत्मविद्या का उपदेश किया और स्वयं

शुद्धचित्त होकर साक्षात् श्रीमन्नारायण भगवान् का साक्षात्कार भी किया।

उन धर्मात्मा प्रतीह के सुवर्चला नामक पत्नी में प्रतिहर्ता, प्रस्तोता और उद्गाता नामक पुत्र हुए, जो कर्मकाण्ड में निष्णात थे, यज्ञादि कार्यों में अत्यन्त निपुण समझे जाते थे। उनमें जो सबसे श्रेष्ठ प्रतिहर्ता थे, उनका विवाह स्तुति नाम की राजपुत्री से हुआ। उसके गर्भ से अज और भूमा दो पुत्र हुए। प्रतीत होता है, बड़े राजकुमार अज ऊर्ध्व रेता ब्रह्मचारी बन गये, अतः भूमा का वंश आगे चला।

महाराज भूमा की पत्नी का नाम ऋषिकुल्या था, जिसके गर्भ से उद्गीथ नामक पुत्र हुआ। उद्गीथ के देवकुल्या नामक पत्नी में प्रस्ताव हुए। प्रस्ताव के विभु, विभु के पृथुषेण, उनके नक्त, नक्त के ही द्रुति नाम्नी पत्नी में उदारकीर्ति परमयशस्वी राजर्षि प्रवर महाराज गय हुए। जिनकी कीर्ति संसार में अब तक फैली हुई है। ये बड़े ही कर्मकाण्डी, दानी उदार और महामना थे। ये अपने समस्त धन को यज्ञ-याग आदि शुभ कार्यों में लगाकर उसका सदा सदुपयोग करते रहते थे। वे अपनी प्रजा का औरस पुत्रों के समान पोषण, लालन, पालन, पीणन और मनोरंजन करते रहते थे। वे निरंतर यज्ञ-यागों में ही लगे रहते थे, किन्तु स्वयं उन यज्ञों से कोई सांसारिक कामना नहीं रखते थे। जो कुछ किया, उसे उसी क्षण कृष्णार्पण कर दिया। "मेरे इन यज्ञादि कार्यों से सर्वान्तरयामी श्रीकृष्ण प्रसन्न हों।" इस प्रकार निष्काम कर्म करते-करते उनका अन्तःकरण विशुद्ध निर्मल आदर्श के समान स्वच्छ बन गया। वे सदा सत्पुरुष, साधु, महात्मा, ज्ञानी तथा भगवद्भक्तों की अव्यग्र भाव से चरण-सेवा करते रहते थे। जो साधु-सन्तों की श्रद्धा से सेवा करते हैं, उनकी सेवा से संतुष्ट होकर साधु पुरुष उन्हें सर्वश्रेष्ठ अपने पास जो वस्तु है, उसे दे

दे देते हैं। साधु पुरुषों के समीप सर्वश्रेष्ठ निधि क्या है—"भगवान् के त्रैलोक्यपावन सुमधुर मनोहर नाम।" राजर्षि गय भी संतों द्वारा भगवन्नाम को प्राप्त करके उनका कीर्तन करते, भगवान् का ध्यान करते, जिससे उनका चित्त विशुद्ध बन गया अब उन्हें देहादि अनात्म पदार्थों में आत्मबुद्धि नहीं होती थी। उनका अहंभाव हट गया और वे आत्मा का यथार्थ रूप समझकर उसे ब्रह्मस्वरूप से अनुभव करने लगे। इतने ज्ञानी, ध्यानी विरक्त होते हुए भी वे कर्त्तव्य के वशीभूत होकर संसारी भोगों में तनिक भी स्पृहा न करते हुए राज-काज बड़ी सावधानी से करते थे।

राजर्षि गय ने एक नहीं, असंख्यों यज्ञ किये। सत्ययुग, त्रेता आदि युगों में यज्ञ के समय देवतागण स्वयं साक्षात् अपने स्वरूपों से आते थे और यजमान के दिये हुए हविर्भाग को दिव्य शरीर से पंक्ति में बैठकर पाते थे, ऐसा सुनते हैं। एक बार महाराज गय ने बड़ा भारी सोमयाग किया। उस यज्ञ में सोम नामक एक लता का रस पान किया जाता है। यह लता कलियुग में तो लुप्तप्राय हो जाती है, अन्य युगों में यह होती है इसे बेचने वाले ब्राह्मण अधम माने जाते हैं। इस लता में यह विशेषता होती है कि अमावस्या को इसमें एक भी पत्ता नहीं रहता। प्रतिपदा को एक पत्ता निकलता है, द्वितीय को दो तथा तृतीय को तीन। इसी प्रकार एक नित्य बढ़ते-बढ़ते पूर्णिमा को १५ पत्ते हो हो जाते हैं। फिर एक-एक गिरता जाता है। अमावस्या को सब गिर जाते हैं। सोम विक्रेता विप्र इसे मन्त्रों द्वारा तोड़कर बेचते हैं। इसे विधिवत् कूटा जाता है, उसमें से एक रस निकलता है, जो मीठा तथा मादक होता है। उसे अधिक पीने से आदमी सुरापायी के समान उन्मत्त बन जाता है। महाराज गय के यज्ञ में बहुत-सा सोमरस निकाला गया था। उसे चसक पान पात्रों में भरकर विधिवत् मन्त्रों द्वारा देवताओं का आवाहन करके उन्हें

पिलाया गया था। सुनते हैं, उस यज्ञ में देवराज इन्द्र ने प्रसन्नता के कारण इतना सोम पान कर लिया कि वे उन्मत्त हो गये।

उनके यज्ञों में यज्ञपति भगवान् वासुदेव स्वयं प्रत्यक्ष रूप से प्रकट होकर राजर्षि के दिये हुए हविर्भाग को ग्रहण करते थे। भगवान् तो नित्य ही तृप्त हैं, फिर भी उपचार से यज्ञों में वे तृप्त हो जायँ, वे संतुष्ट हो जायँ, तो उनके सन्तुष्ट होने पर देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट-पतंग, तिर्यक, जलचर, थलचर, नभचर, तृण, वृक्ष, लता, गुल्म सभी की तृप्ति हो जाती है, सभी सन्तुष्ट हो जाते हैं।

राजर्षि गय तो भगवान् के कलावतार ही थे। जो दक्ष की कन्यायें हैं, धर्म की प्यारी पत्नियाँ हैं और समस्त लोकों की मातायें हैं, उन श्रद्धा, मैत्री, दया, श्री आदि ने गङ्गा, यमुना, सरस्वती आदि अति पवित्र सरिताओं के सहित स्वयं जिनका राज्याभिषेक किया था, उन राजर्षि भरत की महत्ता का वर्णन ही कौन कर सकता है। पृथ्वी उनके राज्य में समस्त इच्छित वस्तुओं को स्वतः देती थी। इन्द्र समय-समय पर वर्षा करते थे। वायु समयानुसार शीत, उष्ण, मन्द, तीव्र तथा सुगन्धित बनकर बहती थी। प्रजा के लोग उनका पिता के समान देवता के समान इष्टदेव के समान सम्मान करते थे। यद्यपि वे सभी कर्म बिना फल की इच्छा से निष्काम भाव से करते थे, फिर भी उनकी समस्त कामनायें पूर्ण होती थीं। वे जो भी मन से इच्छा करते, तत्काल पूरी होती। उनके शस्त्र अमोघ थे। उनके बाण विश्वविजयी थे। वे जिस रण में भी गये, विजय करके ही लौटे उनका पृथ्वी पर कोई शत्रु था ही नहीं सभी मित्र थे। सभी राजा उनके अधीन थे, सभी अपने रत्नजटित मुकुटों से उनके चरणों की बन्दना करते थे, प्रजा के लोग प्रेम से उन्हें अपनी आय का षष्ठांश लाकर देते थे, तथा उनके राज्य में जो वेदपाठी ब्राह्मण-

गण धर्म कर्म करते थे, उनका षष्ठांश परलोक में जाकर देते थे। इस प्रकार महाराज गय के धर्म से यह समस्त वसुन्धरा समृद्धि-शालिनी वन गई। उन धर्मात्मा राजा की सौभाग्यवती धर्म-पत्नी का नाम गयन्ती था। वह पति के अनुकूल आचरण करने वाली पतिपरायण तथा महाराज के पद चिन्हों का अनु-सरण करने वाली परम धार्मिक थी। ऐसी पत्नी को पाकर महा-राज परम सन्तुष्ट थे और वे धर्म पूर्वक उसे साथ लेकर यज्ञादि कर्म करते थे।"

छप्पय

स्वयं पधारें इन्द्र यज्ञ महँ देवन साथा।
अब तक जगमहँ बिदित राजऋषि गय की गाथा॥
इतनो पीयो सोम भये उन्मत्त देवपति।
स्वयं यज्ञपति प्रकटि पाँइ हवि ह्वै प्रसन्न अति॥
जिन बश कीन्हें विश्वपति, तिन गय समता को करें।
निरत रहें सत्संग महँ, सन्त चरण रज सिर धरें॥

प्रैयव्रत वंश का शेषांश

[३४४]

प्रैयव्रतं वंशमिमं विरजश्चरमोद्भवः ।
अकरोदत्यलं कीर्त्या विष्णुः सुरगणं यथा ॥*

(श्रीभा० ५ स्क० १५ अ० १६ श्लोक)

छप्पय

रानी गय की भई गयन्ती पति की प्यरी ।
भये चित्ररथ आदि तीनि सुत आज्ञाकारी ॥
तिनके सुत सम्राट् पुत्र उनके मरीच जित ।
बिन्दुमान तिन पुत्र मधू मधु के बीरव्रत ॥
अन्तिम भूप भये विरज, परम यशस्वी अति सदय ।
देववंश में विष्णु जिमि, भये जगत महँ कीर्तिमय ॥

पौराणिक कथा की यह प्राचीन परिपाटी है कि जिस विषय का भी वर्णन करेंगे, यथाशक्ति पूर्ण करेंगे, क्योंकि वे प्रभु पूर्ण हैं। यथाशक्ति इसलिये कहा कि किसी भी वस्तु का यथार्थ पूर्ण वर्णन न तो आज तक हुआ, न होगा। यदि पूर्ण वर्णन हो जाता,

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! महाराज प्रियव्रत के वंश में अंतिम राजा विरज हुए। उन्होंने अपनी सत्कीर्ति से अपने प्रियव्रत वंश की शोभा इसी प्रकार बढ़ाई, जिस प्रकार भगवान् विष्णु देवताओं की शोभा बढ़ाते हैं।"

तो फिर उसमें कुछ शेष रहता ही नहीं। जैसे हमारे पात्र में जितना दूध है, सबको पी लें तो पात्र खाली हो जायगा, कुछ भी अवशिष्ट न रहेगा, किन्तु ब्रह्म के सम्बन्ध में तो कहा गया है, कि पूर्ण में से पूर्ण निकाल लिया जाय, तो पूर्ण ही शेष रह जायगा। वह कभी अपूर्ण निश्शेष होगा ही नहीं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! मैंने तुम्हें राजर्षि गय का चरित्र सुनाया था। अब महाराज गय से आगे धर्मात्मा मनुपुत्र प्रियव्रत के वंश का श्रवण कीजिये। महाराज गय की धर्मपत्नी गयन्ती से चित्ररथ, सुगति और अवरोधन ये तीन पुत्र हुए। चित्ररथ की पत्नी ऊर्णा से महाराज सम्राट का जन्म हुआ और सम्राट् ने अपनी उत्कला नाम्नी पत्नी में मरीचि नामक सुत को उत्पन्न किया। महाराज मरीचि की विन्दुमती भार्या से विन्दुमान् नामक तेजस्वी पुत्र हुआ। विन्दुमान के सरघा नाम वाली स्त्री से मधु नामक राजर्षि हुए। मधु के सुमना नाम वाली धर्मपत्नी से वीरव्रत सुत हुआ और वीरव्रत की भोजा नाम्नी भार्या ने दो पुत्ररत्नों को प्रसव किया, जो जगत् में मन्थु प्रमन्थु नाम से विख्यात हुए मन्थु ने सत्या नाम वाली भार्या का पाणिग्रहण करके उससे धर्मपूर्वक भौवन नामक चक्रवर्ती पुत्र उत्पन्न किया। भौवन के दूषणा से त्वष्टा और त्वष्टा की विरोचना नाम्नी भार्या से विरज नामक परमयशस्वी तेजस्वी भगवत्भक्त पुत्र उत्पन्न हुआ। उन विरज के विषूची नामवाली पत्नी से शतजित् आदि सौ पुत्र और एक कन्या हुई। वैसे तो विरज के पश्चात् इस वंश में और भी बहुत से राजा हुए, किन्तु विरज अपने ढंग के अद्वितीय ही थे। राजर्षि विरज इस वंश के अन्तिम परम धार्मिक, श्रेष्ठ कीर्तिवाले प्रसिद्ध सम्राट् माने जाते हैं। राजन्! यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में राजर्षि मनुपुत्र प्रियव्रत के वंश का वर्णन सुनाया। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं?"

भगवान् शुक के ऐसे सुखकर वचन सुनकर महाराज परीक्षित् बोले—"प्रभो! मेरी इच्छा है कि मैं मनुवंश का पूर्ण विस्तार के साथ सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनूँ। आपने पीछे बताया था कि यह समग्र पृथ्वी पहिले एक ही थी, महाराज प्रियव्रत ने अपने तेजोमय विमान पर चढ़कर पृथ्वी की सात परिक्रमायें की थीं। उन्हीं से सात समुद्र और सात द्वीप हुए। मैं उन द्वीपों का समग्र वृत्तान्त सुनना चाहता हूँ और उन द्वीपों में महाराज प्रियव्रत के वंशज कौन-कौन राज्य करते हैं, उनका भी सब वृत्तान्त जानना चाहता हूँ। कृपा करके इन सब विषयों को विस्तार के साथ मुझे बतावें।"

नैमिषारण्य में श्रीसूतजी शौनकादि मुनियों से कहते हैं—"मुनियो! महाराज परीक्षित् के ऐसा पूछने पर मेरे गुरुदेव भगवान् शुक सात समुद्र, सात द्वीप, नौ खण्ड, भूलोक के स्थानों का भुवर्लोक, स्वर्गलोक के नक्षत्र, तारा, सूर्य चन्द्र आदि ग्रहों को तथा नीचे के अतल वितल आदि सातों लोकों का वृत्तान्त बताया। मुनियो! इस कथा प्रसंग में मैं उन सबका यहाँ वर्णन न करूँगा। इनका विस्तार से वर्णन यदि सम्भव हुआ, तो भूगोल तथा खगोल के प्रकरण में करूँगा। आप आज्ञा दें, मैं इसके आगे के कथा प्रसंग का वर्णन करूँ।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! हमारा इस नीरस विषय में कोई विशेष आग्रह नहीं है। आपकी जैसी इच्छा। कथा की संगति मिलाने के लिये इस विषय का संक्षेप में वर्णन तो कर ही दें।"

इस पर सूतजी ने कहा—"अच्छी बात है महाराज! सुनिये। हाँ, तो मैंने बताया था कि मनु पुत्र महाराज प्रियव्रत के अग्नीध्र, इध्मजिह्व, यज्ञबाहु, महावीर, हिरण्यरेता, घृतपृष्ट, सवन, मेधातिथि, वीतहोत्र और कवि ये दस पुत्र हुए। इनमें कवि, महावीर,

सवन ये तीन ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी रहे, इन्होंने गृहस्थाश्रम को स्वीकार ही न किया। बिना द्वैत के सृष्टि नहीं। बिना बाँस के वंशी नहीं। इसी प्रकार बिना बहू के वंश-वृद्धि नहीं। अतः इन तीन का तो न वंश चला, न ये किसी देश के राजा हुए। इन्होंने तो अखण्ड राज्य को प्राप्त किया, जिसका कभी नाश ही नहीं होता। अब शेष रहे सात। ये सातों क्रमशः सातों द्वीपों के राजा हुए। जैसे जम्बूद्वीप के राजा आग्नीध्र हुए। प्लक्षद्वीप के इध्मजिह्व, शाल्मलि के यज्ञबाहु, कुशद्वीप के हिरण्यरेता, क्रौञ्चदेश के घृतपृष्ठ, शाकद्वीप के मेधातिथि और पुष्करद्वीप के राजा वीतहोत्र हुए। महाराज आग्नीध्र के वंश का वर्णन तो कर ही दिया है। अब उनके शेष छः भाइयों के वंश का वर्णन सुनिये। एक बात स्मरण रखें। मनुष्यों की पहुँच केवल भारतवर्ष में ही है। भारतवर्ष को छोड़ शेष छः द्वीप और आठ खण्डों में योगी को छोड़कर कोई भी मनुष्य भौतिक साधनों से नहीं जा सकता। ये भौम स्वर्ग माने गये हैं। इनमें भी वैसे लोग उपासना करते हैं, साधारणतया वर्णाश्रम की समान्य कल्पना है, किन्तु इन द्वीपों के मनुष्य तो स्वर्ग शेष सुखों को भोगने ही आते हैं। इनकी हजारों वर्षों की आयु होती है। ये देवताओं की भाँति विषय-सुख भोगते हैं। इन द्वीपों में आजीविका की चिन्ता नहीं। नदियाँ, वृक्ष ही सब जीवनपयोगी सामग्रियों को स्वतः प्रदान करते हैं। यहाँ वृद्धावस्था नहीं होती। बहुत सन्तानें नहीं होतीं। स्त्रियाँ जीवन में एक बार गर्भ धारण करती हैं। सारांश कि इन द्वीपों में स्वर्गीय सभी सुख हैं। वहाँ युगों की भी कल्पना नहीं। त्रेतायुग के समान सर्वदा काल रहता है। प्लक्षद्वीप के अधिपति महाराज इध्मजिह्व के सात पुत्र हुए, जिनके नाम शिव, यवश, सुभश, शान्त, क्षेम, अमृत और अभय है। महाराज इध्मजिह्व ने अपने द्वीप के सात विभाग अपने इन सातों पुत्रों के

नाम से कर दिये। ये सात खण्ड इनके ही नाम से विख्यात हैं। शाल्मलिद्वीप के अधिपति मनुपुत्र महाराज यज्ञबाहु हुए। उनके भी सात ही पुत्र हुए जिनके नाम सुरोचन, सौमनस्य, रमणक, देववर्ष, पारिभद्र, आप्यायन, अविज्ञात हैं। इनके पिता ने भी इन्हीं नामों से अपने द्वीप के सात खण्ड करके इनके ही नामों से वे वर्ष विख्यात करा दिये। कुशद्वीप के अधिपति मनुपुत्र हिरण्यरेता हुए। उनके भी वसु, वसुदान, दृढ़रुचि, नाभिगुप्त, स्तुत्यव्रत, विविक्त और वामदेव-नामक सात ही पुत्र हुए। उन्होंने भी अपने खण्ड के सात विभाग करके सातों पुत्रों के नामों से सात वर्ष प्रसिद्ध कर दिये।

क्रौञ्चद्वीप के अधिपति मनुपुत्र घृतपृष्ठ हुए। संयोग की बात, उनके भी आम, मधरुह, मेरुपृष्ठ सुधामा, भ्राजिष्ठ, लोहितार्ण और वनस्पति नाम वाले ये सात पुत्र हुए, जिन्होंने पिता की आज्ञा से अपने द्वीप के सात विभाग करके अपने नामों से वर्ष स्थापित किये। शाकद्वीप के अधिपति मनुपुत्र मेधातिथि हुए। उनके भी पुरोजव, मनोजव, पवमान, धूम्रानीक, चित्ररेफ, बहुरूप और विश्वाधार ये वर्षाधिपति सात पुत्र हुए, जिनके नाम से शाकद्वीप में सात वर्ष विख्यात हैं। सबसे अंतिम पुष्करद्वीप के स्वामी मनुपुत्र वीतहोत्र हुए। उनके रमणक और धातकि नामक दो पुत्र हुए, उन दोनों के नाम से उस द्वीप में दो वर्ष हैं। अब तक उन द्वीपों में वे ही राजा राज्य करते हैं, या उनके पुत्र पौत्र हैं। मुनियो! इसका मुझे पता नहीं। जहाँ तक मेरा ध्यान है वे ही राजा होंगे।

अच्छा, यह तो मैं पीछे बता ही आया हूँ कि इस जम्बूद्वीप के अधिपति महाराज आग्नीध्र के नाभि, किंपुरुष, हरिवर्ष, इलावृत, रम्यक, हिरण्मय, कुरु, भद्राश्व, और केतुमाल ये नौ पुत्र हुए। उनमें से नाभि ही इस नाभिवर्ष (जो अन्त में भरतजी के

प्रभाव से भरतखण्ड या भारतवर्ष के नाम से प्रसिद्ध हुआ) के राजा हुए। उन नाभि के वंश का चरित्र मैंने कह ही दिया। जम्बूद्वीप में नौ खण्ड हैं। यह द्वीप सबसे मध्य में है। इसी द्वीप के चारों ओर खारा समुद्र है। फिर उसके चारों ओर गोलाकार प्लक्षद्वीप है। उस प्लक्ष के चारों ओर ऊख के रस का समुद्र है। इसी प्रकार एक समुद्र और इससे घिरा एक द्वीप ऐसे सात समुद्र हैं सात द्वीप हैं। ये सब इन चर्म चक्षुओं से दीखते नहीं।

हाँ तो यह जम्बूद्वीप सबसे मध्य में है। शेष छः द्वीप क्रमशः छः समुद्रों से घिरे एक के पश्चात् एक इस क्रम से हैं। इस जम्बूद्वीप में भी सबसे मध्य में इलावृत खंड है। उसी इलावृत खण्ड में दिव्य सुवर्ण का बना सुमेरु पर्वत है, जो पृथ्वी के नीचे भी है और स्वर्ग तथा ध्रुवलोक तक चला गया है। इसी सुमेरु के आठों शिखरों पर आठों लोकपालों की पुरियाँ हैं। जैसे कमल के फूल में एक तो बीच में कर्णिका होती है, उसके चारों ओर पंखुड़ियाँ लगी रहती हैं, वैसे ही इलावृत खण्ड मध्य में है शेष आठ खण्ड इसके आठों ओर अगल-बगल में हैं। भारतवर्ष को छोड़कर आठ खण्ड भू स्वर्ग हैं।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! इन चर्म-चक्षुओं से तो हमें ये शेष आठ खण्ड और सोने का सुमेरु पर्वत दीखता नहीं, फिर हम कैसे समझें ऐसे कोई खण्ड या द्वीप हैं। न हमें खारे समुद्र को छोड़कर कोई दही, मठा, ईख घृत और मधु आदि के समुद्र ही दिखाई देते हैं। मान लो, यह दूर ही सही, तो ये आठ खंड तो जम्बूद्वीप से सटे हैं। इनमें तो प्रवेश होना चाहिये। सो, भारतवर्ष से तो इन द्वीपों में जाने का कोई मार्ग ही नहीं। फिर आप कहते हैं भारतवर्ष ही दीखता है, और द्वीप दिखाई नहीं देते, तो समुद्र पार गौर वर्ण अदस्युओं के देश हैं, चीन

आदि देश हैं, ये तो भारतवर्ष से पृथक् हैं। इनकी किन वर्षों में गणना की जायगी ?"

इस पर सूतजी बोले—"महाभाग! इन सब बातों का मैं विस्तारपूर्वक वर्णन भूगोल और खगोल के सम्बन्ध में करूँगा। यहाँ इतना ही बताये देता हूँ, कि जो आजकल द्वीप, उपद्वीप दिखाई देते हैं, जहाँ भी मनुष्य पहुँच सकता है, ये भारतवर्ष के अन्तर्गत हैं। हमें जो यह खारे-सा जल का समुद्र दीखता है यह समुद्र नहीं है सागर है। महासमुद्र तो बहुत दूर है। सगर के साठ हजार पुत्रों ने इस भारतवर्ष को अपने घोड़े की खोज में चारों ओर से खोद डाला। इसलिये इसका सम्बन्ध अन्य आठ वर्षों की भूमि से सर्वथा विच्छेद हो गया। अब भारतवर्ष के चारों ओर सागर हो गया। इसीलिये आठ-दस बड़े-बड़े द्वीप के समान टापू बन गये, जिनमें समुद्र से जीविका करने वाले निषाद-आभीर वर्णाश्रमेतर पुरुष रहने लगे। उन द्वीपों में अधिक शीत होने के कारण वहाँ के लोगों के चर्म गौर वर्ण के हो गये। कुछ के पीत वर्ण के। वास्तव में ये सब भारतवर्ष के ही द्वीप, उपद्वीप, टापू आदि हैं। क्योंकि इनमें वर्णाश्रमी लोग रहते नहीं, इसीलिये कुमारी कन्या से लेकर हिमालय के प्रदेश को ही भारतवर्ष कहने की प्रणाली पड़ गई। अर्थात् वर्णाश्रमधर्मी भारतवर्ष। कलियुग में ये दस्यु ही राजा बन जायँगे। ये ही अपनी भौतिक बुद्धि से भौतिक आविष्कार करके अपने को सभी विषयों के पंडित समझेंगे। इन अनार्यों की बुद्धि इतनी संकुचित होगी, कि ये महाभारत युद्ध से आगे के इतिहास की कुछ कल्पना ही न कर सकेंगे। ये भारतवर्ष को ही संसार कहकर इसी के इतिहास, भूगोल को कृत्रिम रूप से बतावेंगे। महाराज! यह युगधर्म है। इसमें किसी का दोष नहीं है। अब आगे मैं इस पर फिर कभी प्रसंगानुसार प्रकाश डालूँगा। रही महाराज! इनके सत्य और

कल्पना की बात, सो यह संसार ही कल्पित है। बहुत से अद्वैत वेदान्त के आचार्य इस दृश्य जगत् को त्रिकाल में हुआ नहीं मानते। उनके मत में यह संसार न कभी हुआ, न है, न होगा। बन्ध्या-पुत्र के समान, सीप में रजत के समान, टेढ़ी रस्सी में सर्प के समान अज्ञान से इसकी मिथ्या प्रतीति हो रही है। भगवन्! जब यह पूर्ण संसार ही कल्पित है माया का खेल है तो इसी प्रकार ये द्वीप खण्ड वर्ष आदि कल्पित ही हैं। यदि ये नद, नदी, पहाड़, सागर, नगर सत्य हैं, तो द्वीप, खण्ड, समुद्र आदि भी सत्य हैं। यह जीव अपने कर्मों से नाना योनियों में भ्रमण करता हुआ सुख-दुख उठता है। चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करता है। कभी स्वर्ग में जाकर सुख भोगता है, कभी नरकों में जाकर नाना यातनाओं का अनुभव करता है। नरक स्वर्ग से निकल कर फिर पृथ्वी पर जन्म लेता है। फिर प्रारब्ध कर्मानुसार नाना योनियों में भटकता फिरता है। इसी का नाम संसार चक्र है। भूः भुवः स्वः महः जनः तपः और सत्य ये ऊपर के लोक हैं। अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल ये सात नीचे के लोक हैं। इन चौदह भुवनों का ही एक ब्रह्मांड होता है। ऐसे असंख्यों ब्रह्माण्ड इस विश्व में व्याप्त हैं। पृथ्वी पर आठ खण्ड और छः द्वीप भू स्वर्ग हैं। नीचे के सात भूविवर स्वर्ग अर्थात् पाताल स्वर्ग कहाते हैं। इन नीचे के लोकों में स्वर्ग से भी अधिक सुख है। भूलोक के ऊपर के तो सब दिव्य स्वर्ग हैं ही। इनके अतिरिक्त पृथ्वी के नीचे बहुत से नरक हैं, जिनमें पापी पुरुष पचाये जाते हैं।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! नरक क्या होते हैं। ये लोक वास्तव में कुछ हैं या वैसे ही डराने को कल्पना कर ली है। यदि ये हैं तो बताइये कहाँ हैं?"

इस बात को सुनकर सूतजी हँसे और बोले—"महाराज!

यही बात महाराज परीक्षत् ने मेरे गुरुदेव भगवान् शुक से पूछी थी। उसी प्रसंग का मैं अब आपके सम्मुख वर्णन करूँगा। आप सब दत्तचित्त होकर इस धर्म के मर्म को जानने वाले परम आवश्यक विषय को श्रवण करें।"

छप्पय

राजन् सात समुद्र सात हैं द्वीप अवनि पै।
प्रियव्रत सुत ई करें राज इन सब द्वीपनि पै॥
भौम स्वर्ग दिवि स्वरग स्वरग पाताल कहावें।
तिनि में करिकें पुण्य धर्म प्रेमी जन जावें॥
पुण्यनि को फल स्वरग है, शास्त्र, वेद, ऋषि मुनि कहें।
पाप करें तें नरक में, नर नाना बिधि दुख सहें॥

नरक क्या है

[३४५]

न चेदिहैवापचिति यथांहसः
कृतस्य कुर्यान्मनउक्तिपाणिभिः ।
ध्रुवं स वै प्रेत्य नरकानुपैति
ये कीर्तिता मे भवतस्तिग्मयातनाः ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० १ अ० ७ श्लोक)

छप्पय

पाप करें तें हृदय माहिँ अति तम भरि जावै ।
अन्तःकरन मलीन होहि नर बहु दुख पावै ॥
सूक्ष्म देह जब जाइ यातना देह पाइकें ।
नरकनि में फिरि पचे भूमि ते जीव जाइकें ॥
सहै यातना नित नई, किन्तु दुःख में मरे नहि ।
अनुभव वैसे ई करै, जैसे नर तनु कष्ट सहि ॥

सुख दो प्रकार के होते हैं, एक दृष्ट सुख एक श्रुत सुख । दृष्ट सुख तो उसे कहते हैं, जिन्हें हम अपनी इन्द्रियों से इसी लोक में अनुभव करते हैं । जैसे अत्यन्त गुदगुदे गद्दों पर बैठने

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जो मनुष्य मनसा, वाचा, कर्मणा किये हुए दुष्ट कर्मों का इसी जन्म में प्रायश्चित नहीं कर लेता, उसे मृत्यु के पश्चात् मैंने जिन भयंकर यातना पूर्ण नरकों का वर्णन किया है, उनमें उसे अवश्य-अवश्य जाना पड़ेगा ।"

से स्पर्शेन्द्रिय को सुख होता है। अत्यन्त सुन्दर से सुन्दर वस्तु देखने से नेत्र को सुख होता है, स्वादिष्ट से स्वादिष्ट पदार्थ खाने से जिह्वा लपलप करने लगती है, ओठ चाटने लगती है, बड़ा रस आता है। ताल स्वर सहित सुन्दर गायन हो रहा हो, तो चाहे समझ में कुछ भी न आवे मन प्रसन्न होता है। इसी प्रकार सब इन्द्रियों के विषय के विषय में समझना चाहिये। इन्द्रियों के अनुभूत सुख का नाम है दृष्ट सुख। श्रुत सुख उसे कहते हैं जो हमने अनुभव तो किया नहीं केवल सुना मात्र है। जैसे जो वायुयान पर चढ़कर घूमा है, वह जब आकर कहता—"भैया, वायुयान पर चढ़ने में तो बड़ा ही आनन्द आता है। सर्र-सर्र वायुयान ऊपर उठता है, पेट का पानी भी नहीं हिलता। ऊपर से घरघरुआ पाती की भाँति छोटे-छोटे दीखते हैं, वृक्ष झाड़ियों के समान दिखाई देते हैं। सड़के लकीर-सी दीखती हैं। टेढ़ी-मेढ़ी बहती हुई नदी लम्बी सर्पिणी के सदृश प्रतीत होती है। ऊपर धूलि न धक्कड़ आनन्द से दृश्य देखते हुए उड़ते चलो।" इस वर्णन से जो सुख होता और उसमें जो स्पृहा होती है वही श्रुत सुख है। स्वर्ग किसने देखा है। स्वर्ग देखकर कलियुग में कौन लौटा है? किन्तु शास्त्र ही, आप्त वचन ही उसके अस्तित्व में प्रमाण है। वहाँ विमान है, अप्सरायें हैं, गन्धर्व हैं, कल्पवृक्ष है, कामधेनु है, नन्दन वन है, अमृत है, और न जाने क्या है, उन्हीं के लोभ से, उन्हें ही पीने की इच्छा से—हम सत्कर्म करते हैं उन्हें पाते हैं।

जैसे दृष्ट और श्रुत भेद से सुख दो प्रकार हैं, वैसे ही दुःख भी दो प्रकार के हैं। दृष्ट दुःख तो शरीर में नाना रोग हो गये, सिर दर्द हो गया, कीड़े घुस गये, आधा सिर दुखने लगा, गुमड़ी हो गई- पक गई। नेत्रों में दर्द हो गया, फुल्ली हो गई, सड़ गई, कीड़े पड़ गये। दाँत खोखले हो गये, मसूड़े फूल गये, दुर्गन्धि आने लगी; उदर-विकार, वीर्य-विकार, अंगों का

सड़ जाना क्षत हो जाना आदि, कुष्ट से अंगों का गिर जाना आदि शरीर में असंख्यों रोग होते हैं जो दुःख देते हैं वे सब व्याधि कहलाते हैं। मन से जो दुःख होता है उसे आधि कहते हैं। अपकीर्ति हो गई। युवा पुत्र मर गया। अभी लड़की का विवाह किया अभी विधवा हो गई। अभियोग में पराजय हो हो गई, किसी ने कटु शब्द कहकर अपमान कर दिया, किसी ने विश्वासघात ही कर दिया। इन सब दुःखों को दृष्ट दुःख कहते हैं। नरक में जिन नाना यातनाओं का शास्त्रों में वर्णन मिलता है उन्हें श्रुत दुःख कहते हैं। जीव जैसा इस लोक में कर्म करता है परलोक में वैसा ही उसका दुःख भोगता है। कर्मानुसार जीवों को नाना योनियों में जाना पड़ता है।

राजा परीक्षित् ने महामुनि शुकदेवजी से पूछा—"प्रभो! आपने बताया पुण्य के कारण जीव स्वर्ग में जाकर सुख भोगते हैं और पाप से नरक जाते हैं। यह क्या बात है? हमने तो बहुत से पुण्यात्माओं को दुःख भोगते देखा है, बहुत से पापी पाप करते हुए भी आनन्द से विषयों का उपभोग करते हुए देखे गये हैं। यह क्या बात है? इन उच्चता नीचता, छोटेपन बड़ेपन की विभिन्नता का क्या कारण है?"

इसपर श्रीशुक बोले—"राजन! यह तो कर्म की गति है। पूर्वजन्म का कोई पाप उदय हो जाता है तो पुण्यात्मा पुरुषों को भी दुःख भोगने पड़ते हैं। पूर्वजन्म का कोई पुण्य उदय हो जाता है, तो पाप करते हुए भी पूर्वपुण्य के प्रभाव से सुखोपभोग की सामग्रियाँ प्राप्त हो जाती हैं, तो भी पुण्यात्मा दुःख भोगते हुए भी उसे धैर्य से सहते हैं। उन्हें उतना क्लेश नहीं होता, वे समझते हैं, हमारे प्रारब्ध के भोग क्षय हो रहे हैं अच्छा ही है। इसके विपरीत पापात्मा विषयों का उपभोग करते हुए अशान्त दुखी बने रहते हैं कि हाय! ये विषय

भोग नष्ट हो जायँ, ये चले न जायँ।" महाराज! सत्त्व-रज और तम के अधीन होकर मनुष्य जैसे कर्म करता है, उनकी छाप अन्तःकरण में लग जाती है, उसी से नाना योनियों में इस पृथ्वी पर जन्म लेता है। मरकर कर्मों के अनुसार स्वर्ग नरक में सुखोपभोग यातनाओं का अनुभव करता है।"

राजा परीक्षित् ने पूछा—"भगवन्! स्वर्ग की बातें तो मैंने बहुत सुनीं, किन्तु मैं यह पूछना चाहता हूँ, नरक क्या हैं, ये कोई लोक विशेष हैं, या जो हम सूकर, कूकर योनियों में प्राणियों को नाना क्लेश सहते देखते हैं ये ही नारकीय भोग हैं?"

श्रीशुकदेवजी ने कहा—"महाराज! जैसा पृथ्वी पर भौम स्वर्ग है, वैसे ही यहाँ भी भौम नरक है, किन्तु नरक नाक के पाताल के नीचे एक अन्धकारमय देश है। पापियों को वहाँ यमराज की आज्ञा से ले जाया जाता है और उनके पापों के अनुसार दण्ड दिया जाता है।"

इस पर राजा ने पूछा—"भगवन् पाप तो इस शरीर से होता है, शरीर मृत्यु के अनन्तर यहाँ रह जाता है। जिसके साथ पाप कर्म करते हैं, वे सब यहाँ रह जाते हैं, फिर नरक में दुःख किसे दिया जाता है? आप कहेंगे, कि दूसरे शरीर से यातनायें दी जाती हैं, तो अन्याय है। करे कोई देह, फल भोगे दूसरी देह। यह तो उचित नहीं। जैसे किसी ने परस्त्री गमन किया, उससे परिणाम स्वरूप पाप की सन्तानें हुईं मरने पर उस पुरुष का शरीर भी यहीं रह गया। उस स्त्री का शरीर भी यहीं रह गया, उस पाप के परिणाम स्वरूप जो पापजनित सन्तानें हुईं वे भी यहीं रह गईं। अब नरक में कौन दुःख भोगता है?"

इस पर श्रीशुक बोले—"महाराज! आपको स्मरण होगा, इस प्रश्न का उत्तर हम नारद और प्राचीनवर्हि के सम्वाद में

पहिले ही दे चुके हैं। फिर भी सुन लो। पाप पुण्य ये दोनों मन की वृत्ति हैं। जब तक मन की इन कर्मों में प्रवृत्ति न होगी तब तक शरीर न पाप कर सकता है न पुण्य। एक आदमी के पैर में खड़ाऊँ हैं। वह उन्हें पहिनकर पूजा-मन्दिर चला गया। तो बुद्धिमान् लोग उस जाने वाले को ही बुरा भला कहेंगे। डंडा लेकर खड़ाऊँओं को तो कोई भी नहीं मारता, कि तुम भीतर चले आये। खड़ाऊँ बेचारे स्वतः जाने में समर्थ थोड़े ही हैं। पहिनने वाला जहाँ ले जाय, वहीं वे बिना विरोध किये चले जायँगे उनके फल का भोक्ता वही होगा, जो उन्हें पहिने है। इसी प्रकार शरीर तो साधनमात्र है, भोक्ता तो मन है माया मोहित जीव मन के व्यापारों को अपने में आरोपित कर लेता है, वह अपने को कर्ता मान लेता है। इसीलिये शुद्ध बुद्ध मुक्त होने पर भी भावानुसार मन के कारण उसे सुख दुःख भोगने पड़ते हैं। ब्रह्महत्या, परस्त्री गमन में मन की प्रवृत्ति ही न हो तो शरीर संसर्ग ही न हो। संसर्ग होने पर भी मन के भाव दूषित न हों तो पाप ही न हो। जिस गुण के अधीन होकर मन जैसे कर्म करता है, वैसे ही संस्कार उसके हो जाते हैं और फिर वैसे ही क्लेशों को वह सहता है। दृष्टान्त लीजिये। स्वप्न में कोई हमारा सिर काटता है, कितना कष्ट होता है, वहाँ न तलवार है न काटने वाला है न सिर है, फिर भी जब तक निद्रा नहीं खुलती क्लेश का अनुभव मन करता ही है। इसी प्रकार कर्ता का सूक्ष्म शरीर जब यातनामय देह को प्राप्त करके नरक के दुःखों को सहता है, तो पूर्ववासनाओं की स्मृति से उसे उसी प्रकार दुःखों का अनुभव होता है, जैसे इस स्थूल शरीर से होते थे।

राजा ने पूछा—"भगवन् ! इतनी वेदनायें सहन करने पर भी वह मरता क्यों नहीं ?"

शीघ्रता से श्रीशुक बोले—"अजी, राजन्! मरे क्या? मरता तो यह स्थूल शरीर है। सूक्ष्म का क्या मरना। आप रोज ही देखते हो स्वप्न में सिर कट जाता है तो भी स्वप्न द्रष्टा अनुभव करता है देखता है मेरा सिर धड़ से पृथक् हो गया। सिर धड़ से पृथक् होना ही जीव की मृत्यु है, तो उसे अनुभव कौन करता है? मेरा सिर कटा। इसी प्रकार यातना शरीर को चाहे कितने क्लेश दिये जाँय चाहे उनकी बोटी-बोटी काट दी जाय, वह मरेगा नहीं, उन दुःखों का अनुभवमात्र ही करेगा। ये तो सब संस्कार-मय देह संस्कारमय यातनाएँ होती हैं। सो राजन्! निषिद्ध कर्मों के कर्ताओं को उनकी श्रद्धा की असमानता के कारण उन्हीं के समान फल मिलने स्वाभाविक ही हैं। जो जैसा करेगा, परलोक में वैसा ही सुख-दुःख उसे उठाना पड़ेगा।"

राजा ने आश्चर्य के साथ पूछा—"भगवन्! इससे तो मेरे रोंगटे खड़े हो गये। कृपया बताइये किन-किन पापों से किन-किन नरकों में जाते हैं उन्हें किन कर्मों के करने से कौन-कौन सी यातनाएँ सहनी पड़ती हैं?"

राजा का प्रश्न सुनकर शुकदेवजी ने कहा—"अच्छी बात है राजन्! सुनिये, मैं संक्षेप में आपको सब बताता हूँ।"

छप्पय

इन्द्रिय मन आधीन करे जो जिह करवावै।
मन लैजावै स्वरग नरक में जिही पठावै॥
मन तें भोगे भोग जिही देखे सपने कूँ।
माया-मोहित जीव कहे कर्ता अपने कूँ॥
यह मन चञ्चल चपल अति, नहिं काऊ को मीत है।
मन के हारे हार है, मन के जीते जीत है॥

किन-किन पापों से कौन-कौन नरक प्राप्त होते हैं ?

[३४६]

तस्मात्पुरैवाश्विह पापनिष्कृतौ
यतेत मृत्योरविपद्यतात्मना ।
दोषस्य दृष्ट्वा गुरुलाघवं यथा
भिषक् चिकित्सेत रुजां निदानवित् ॥*
(श्रीभा० ६ स्क० १ अ० ८ श्लोक)

छप्पय

रौरव, कुम्भीपाक, महारौरव, सूकरमुख ।
कृमिभोजन, सन्दंश, शाल्मली, नरक देहिँ दुख ॥
तप्तभूमि, पूयोद, प्रानरोधन, बटरोधन ।
पर्यावर्तन, शूलप्रोत, वैतरणी, बिशसन ॥
कोई कहें अनेक हैं, अष्टाविंशति कछु कहें ।
इन नरकनि महँ जाइकें, पापीजन बहु दुख सहें ॥

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इसलिये मनुष्य को चाहिये कि मृत्यु होने से पूर्व ही जब तक यह स्थूल पाञ्चभौतिक शरीर क्षीण न हो तभी तक अपने किये पापों से छूटने का उपाय कर लें । जैसे रोगों का निदान जानने वाला वैद्य दोषों की न्यूनाधिकता देखकर उनकी यथोचित चिकित्सा करता है ।"

पाप करने से नरकों की प्राप्ति अवश्य होगी, पुण्य और पापों का फल इसी लोक में भोगना होगा मरकर परलोक में भी, अतः पहिले तो पाप बनने ही न चाहिये, भूल से, असावधानी से पाप बन भी जाय तो उनका शरीर रहते ही प्रायश्चित्त कर लेना चाहिये। इसीलिये पापों का स्वरूप जान लेना आवश्यक है कि कौन पाप कैसा है और उसके करने से किस नरक में जाने पर कौन-कौन सी यातनायें सहनी पड़ती हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! नरक दक्षिण दिशा में हैं, सातों पातालों के नीचे जहाँ फिर जल ही जल है, उसके ऊपर और पृथ्वी के नीचे हैं। स्वर्ग की भाँति ये भी एक सूक्ष्म भावमय देश विशेष हैं। वे स्थूल दृष्टि वाले प्राणियों को इन चर्म चक्षुओं से नहीं दीखते। जैसे स्वप्न के पदार्थ भावमय सूक्ष्म होते हैं और जीव मन के द्वारा उनसे सुख-दुःख का अनुभव करता है, वैसे ही नरक के सब दुःखदायी पदार्थ हैं। नारकीय जीव ही यातना शरीर से उनका अनुभव करते हैं। वहाँ सूर्यपुत्र पितृराज यम एक रूप से अपने भृत्यों के साथ सुख सहित निवास करते हैं और पापियों के दुःख देने की सब व्यवस्था करते हैं। उसी दिशा में अग्निष्वात्ता आदि नित्यपितृ सभी योनियाँ पितरों को उनके वंश वालों के दिये हुए श्राद्धान्न को उनके अनुरूप बनाकर पहुँचा देते हैं। पापों की कोई संख्या नहीं, वे असंख्य हैं। जितने प्रकार के जीव हैं, उतने ही पाप हैं उतने ही नरक भी हैं फिर भी सामान्यतया मुख्य इक्कीस नरक हैं। कोई सात और बढ़ाकर अट्ठाईस बताते हैं। अब उनके नाम सुनिये। पहिला तामिस्र नरक है। जो सदा तम से व्याप्त रहता है। वहाँ खाने को डंडे मिलते हैं। दिन भर चूतड़ों पर तड़ातड़ डंडे पड़ते रहते हैं। भूख प्यास निरन्तर दुःख देती रहती है। खाने को कुछ मिलता नहीं।

सूक्ष्म देह होने से मृत्यु भी नहीं होती। मार खाओ और भूख प्यास से कुलबुलाओ, यही वहाँ का व्यापार है।

दूसरा अंधतामिस्र नरक है। तामिस्र नरक में तो यातना सहते सहते रोते रहते हैं, किन्तु अंधतामिस्र में तो इतना कष्ट यम के दूत देते हैं, कि वेसुध हो जाते हैं। चेतनाशून्य हो जाता है। जहाँ चेतना हुई फिर मार पड़ी, फिर वेसुध हो गये।

तीसरा रौरव नरक कहाता है। रुरु नाम का एक सर्प से भी क्रूर जानवर होता है वह वहाँ काटता है। इसी से वह रौरव कहलाता है। अच्छा राजन् ! मैं पहिले आपको सबके नाम गिना दूँ तब दुःख आदि का वर्णन करूँगा। तामिस्र, अंधतामिस्र, रौरव, महारौरव, कुम्भीपाक, कालसूत्र, असिपत्रवन, शूकरमुख, अन्धकूप, कृमिभोजनसंदंश, तप्तभूमि, वज्रकंटक, शाल्मली, वैतरणी, पूयोद, प्राणरोध, विशसन, लालाभक्ष, सारमेयादन, अवीचि और अयपान ये तो इक्कीस हुए, इनके अतिरिक्त क्षारकदम, रक्षोगणभोजन, शूलप्रोत, दन्दशूक, वटरोधन, पर्यावर्तन और सूचीमुख सात हैं। इस प्रकार मुख्य अट्ठाईस नरक हैं। वैसे तो असंख्यों हैं। जो जैसा पाप करता है, उसे वैसे ही नरकों में जाना पड़ता है।

महाराज ! सबसे बड़ा पाप है, हिंसा। प्राणीमात्र जीवित रहना चाहता है, स्वेच्छा से बिना मौत किसी की मरने की इच्छा नहीं होती। जो जीवन की इच्छा वाले जीवों को अपने पेट को पोसने के लिये या द्वेष अहंकारवश मार डालता है, उसे नाना नरकों में भिन्न-भिन्न यातनायें सहनी पड़ती हैं। जीव-हिंसा से बढ़कर कोई पाप नहीं। जैसे अपने को कष्ट होता है, वैसे ही सभी को कष्ट होता है, अतः शक्ति भर किसी जीव की हिंसा न करनी चाहिये।"

इस पर राजा ने पूछा—"महाराज ! जीव हिंसा जब इतना

बड़ा पाप है, तो मनुष्य का जीवन कैसे चले ? जीवों से ही जीवों की जीविका चलती है। तीतर कितने कीड़ों को रोज खा जाता है। मेढ़क पतंगों को ही खाकर जीता है। छिपकली रात्रि-दिन जीवों की ही घात में रहती है। जल में रहने वाले बड़े जीव छोटे जीवों को ही खाकर जीते हैं। सिंह, व्याघ्र मांस को छोड़कर कुछ खाते नहीं। ये सब हिंसा से कैसे बच सकते हैं ?"

श्रीशुक ने कहा—"महाराज ! पशुओं में और मनुष्यों में यही तो अन्तर है, वे अपने सहज स्वभाव को स्वयं बदल नहीं सकते। मनुष्य चाहे तो बदल सकता है। इसी से मनुष्य को 'साधक' कहा है।"

इस पर महाराज परीक्षित ने कहा—"साधक कहा है तो क्या प्राण दे दे। यदि हिंसा न करे तो एक दिन भी नहीं जी सकता। अन्न के प्रत्येक दाने में जीव है। शाक-भाजी, फल सभी में जीव है, सभी बढ़ना चाहते हैं, सभी जीवित रहना चाहते हैं। एक ककड़ी बढ़ रही है हम उसे तोड़कर खा जाते हैं, यह हिंसा नहीं हुई ? जब यह हिंसा है, तो कोई कबूतर, बकरा, मुर्गा को खा लेते हैं। एक ही बात है, फिर आप जीव-हिंसा की इतनी निंदा क्यों करते हैं ? दो पैर वालों के चार पैर वाले सब भक्ष्य ही हैं। पादचारियों के अपद भक्ष्य हैं। बड़ों के छोटे भक्ष्य हैं। एक जीव दूसरे जीवों को खाकर जी रहे हैं। ऐसी दशा में हिंसा से कौन बच सकता है ?"

यह सुनकर श्रीशुक बोले—"राजन् आपका कथन सत्य है, संसार में सभी में जीव है, जिसमें जीव नहीं उसका अस्तित्व नहीं। फिर भी जीवों में तारतम्य है, जिसमें चैतन्य का जितना ही अधिक प्रकाश प्रतीत होता है वह जीव उतना ही अधिक श्रेष्ठ है। जैसे महाराज, कंकड़ पत्थरों में भी जीव है कूआ खोदने पर मिट्टी में ढके कंकड़ निकलते हैं आप ध्यान से अध्य-

ध्यान करें तो प्रतीत होगा, वे बढ़ रहे हैं। वृद्धि, क्षय, जीवन में ही होती है। किन्तु इन कङ्कड़ पत्थरों में चैतन्य तत्त्व अत्यन्त कम है। अतः घर, सड़क बिना बनाये ही काम चल जाय तो व्यर्थ में कङ्कड़ पत्थरों को न तोड़े फोड़े। तोड़ने-फोड़ने आवश्यक ही हों तो जितने से काम चल जाय, उतने ही तोड़े-फोड़े कङ्कड़ पत्थरों की अपेक्षा घास में चैतन्य का प्रकाश अधिक प्रतीत होता है। घास घटती बढ़ती है, पानी पाकर हरी होती है। धूप से मुरझा जाती है, अतः कङ्कड़ पत्थर की अपेक्षा घास काटने में अधिक हिंसा है। घास से अधिक चैतन्य वृक्ष और लताओं में प्रतीत होता है। वृक्ष तथा लतायें फूल, फल देते हैं। ये आँखों से देखकर चढ़ते हैं। सुख-दुःख का अनुभव करते हैं शीतोष्ण का स्पर्श समझते हैं, अतः घास की अपेक्षा इन्हें काटने में अधिक हिंसा है। लता वृक्षों से अधिक चैतन्य मछली-अंडों में कीड़े-मकोड़े और पत्तियों में है, अतः इनमें तो जीवन प्रत्यक्ष दीखता है, किसी मुरगे का सिर काटिये कितना तड़फड़ावेगा, किसी बकरे को काटिये, मरते समय कैसा छटपटाता है, अतः राजन् ! इन मूक पशुओं को अवैध हत्या करना केवल स्वार्थ के लिये, पेट भरने के लिये इनके प्राणों का घात करना घोर पाप है। इनसे अधिक चैतन्य बुद्धिजीवी पशुओं में जैसे हाथी, घोड़ा, बन्दर, गौ, भैंस आदि में है। इनसे अधिक मनुष्यों में, मनुष्यों से अधिक ब्राह्मणों में और ब्राह्मणों में भी वे सर्वश्रेष्ठ हैं जो ज्ञानी हों विद्वान् हों शास्त्रों में पारंगत हों। अतः सबसे बड़ा महापाप ब्रह्महत्या है ब्रह्महत्या से बढ़कर कोई पाप नहीं।"

राजा ने पूछा—"महाराज, अनजान में भी नित्य कीड़े-मकोड़े, चींटी, मक्खी, मच्छर मर जाते हैं, इनके मरने का तो पाप न लगता होगा ?"

श्रीशुक बोले—"लगता क्यों नहीं राजन् ! पाप तो चाहे जान

के किया जाय, या अनजान में, फल तो सभी का भोगना पड़ेगा। किन्तु अनजान में भूल में अनिच्छा से जो पाप हो जाता है उसका कम अपराध होता है ऐसे पाप शुष्क पाप कहलाते हैं। इनका प्रायश्चित् यही है कि गृहस्थी को नित्य अतिथियज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, ऋषियज्ञ तथा बलिवैश्वदेवयज्ञ करना चाहिये। इनके करने से इन अज्ञात पापों का प्रायश्चित्त हो जाता है। जो पञ्च यज्ञ बिना किये ही भोजन कर लेते हैं। अतिथि के आने पर भी उसे नहीं पूछता, वह अन्न नहीं खाता, कीड़े खाता है। महाराज! प्रत्यक्ष देखा गया है। एक गृहस्थी के यहाँ एक साधु ठहरे हुए थे। गृहस्थी कहीं बाहर गया था। इतने में ही एक दूसरे बड़े सिद्ध सन्त आ गये। पहिले ठहरे सन्त बहुत सुन्दर खीर बना रहे थे। इन नये सन्त को देखते ही वे जल भुन गये। सोचा "इसे भी भाग देना पड़ेगा। खीर आज इतनी सुन्दर बनी है कि किसी को तनिक भी न दी जाय।" अतः उन्होंने किवाड़ा बन्द कर लिया। गृहस्थ की धर्म-पत्नी ने आकर प्रार्थना करी—"महाराज, एक और नये सन्त आये हैं। उनके लिये भी प्रसाद बन जाय।" यह सुनकर, वे सन्त आग बबूला हो गये। उस स्त्री को झिड़क कर बोले—"यहाँ कुछ रसोई नहीं बन सकती।" बिचारी स्त्री चली गई। आने वाले सन्त को बड़ी शीघ्रता थी, अतः उन्हें दूध पिलाकर बिदा कर दिया।

नये सन्त के चले जाने पर उन खीर-प्रेमी सन्त ने थाल में ज्यों ही खीर उड़ेली तो वे क्या देखते हैं, चावल एक भी नहीं, सब सफेद कीड़े कुलबुला रहे हैं थाली में इधर-उधर रेंग रहे हैं। अब सन्त को बोध हुआ। वे दौड़े-दौड़े उन सिद्ध सन्त के समीप गये, उनसे अपने अपराध की क्षमा माँगी।"

सिद्ध सन्त ने कहा—"भाई तुमने मेरा तो कुछ अपराध किया नहीं। भगवान् का अपराध किया है, उन्हें बिना निवेदित

किये बिना बाँटे खाया है. अतः अमुक स्थान में इतने दिन साधुओं का उच्छिष्ट पाओ, उनके जूठे बर्तन मलो, तब इस दोष
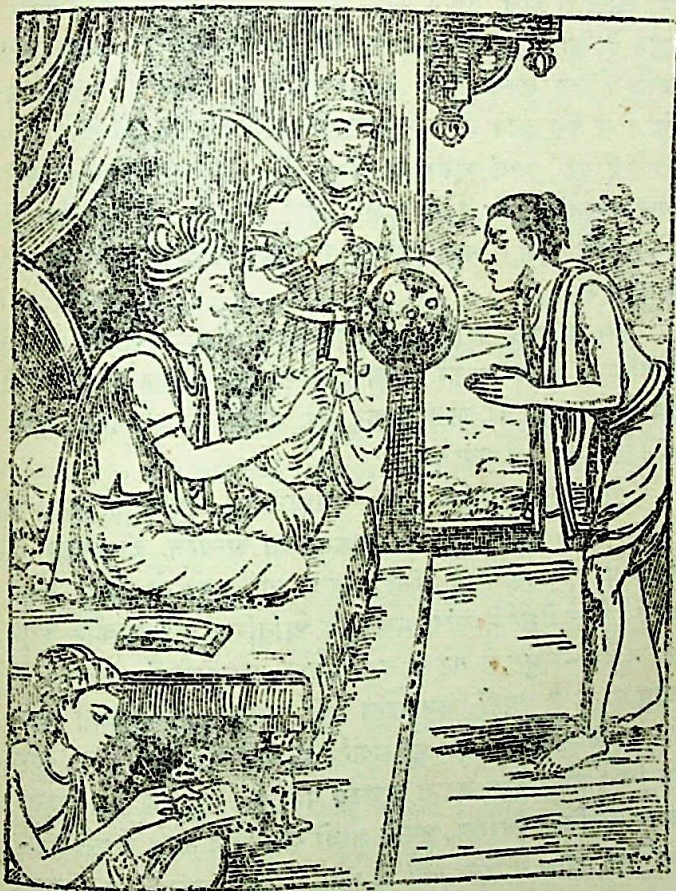
से छूटोगे। सो राजन् ! कहने का अभिप्राय इतना ही है, कि जो पञ्चमहायज्ञ बिना किये भोजन करता है वह कीड़े के समान भोजन करता है।

यहाँ चाहे उसे कीड़े न भी दीखें, किन्तु इस पाप से जब वह "कृमि-भोजन" नामक नरक में जाता है, तो पहिले तो उसे कीड़े भरे कुण्ड में डाल देते हैं, वहाँ उसे चारों ओर से कीड़े काटते रहते हैं, कीड़ों को ही रात्रि दिन वह खाता है। वह नरक एक लाख योजन लम्बा चौड़ा है। चारों ओर कीड़े ही कीड़े इस कुण्ड से उस कुण्ड में, उस कुण्ड से इसमें ऐसे ही उसे कीड़े खाते रहते हैं वह स्वयं कीड़ों को खाता है। जो पुरुष इनसे बचना चाहे उसका कर्तव्य है कि बालक, वृद्ध, अतिथि, गौ आदि को बिना दिये कभी न खाय। बिना भूतों का भाग निकाले एकाकी कभी न खाय।"

इस पर राजा परीक्षित् ने पूछा--"प्रभो! बहुत से ऐसे देश हैं जहाँ मांस भक्षण न करे तो आजीविका ही न चले। कभी-कभी विपत्ति में पड़ने पर मांस खाकर ही जीवन निर्वाह किया जाता है। ऐसी दशा में क्या करें?"

यह सुनकर श्रीशुक बोले—"महाराज! विपत्ति की बात तो दूसरी रही। यदि प्राण धारण करने की अत्यन्त ही इच्छा हो और मांस भक्षण किये बिना प्राण धारण न हो तो कोई उपाय नहीं। जिन देशों में मांस भक्षण के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय ही न हो—समुद्र के तट के बहुत देश टापू ऐसे हैं, उनकी भी बात पृथक् है। वहाँ उतना दोष नहीं लगता। किन्तु जहाँ अन्न, दूध, फल खाकर निर्वाह हो सकता है, वहाँ व्यर्थ में मांस खाने के लिये जीव हिंसा करना अक्षम्य पाप है। बहुत से दुष्ट कबूतर, बटेर, चिड़िया चिरौटा, आदि जीवों को पकड़ लाते हैं और जीते ही उन्हें अग्नि में भून लेते हैं। वे मरकर 'कुम्भीपाक' नामक नरक में जाते हैं। वहाँ बड़े-बड़े तैल के गरम कुण्ड होते हैं, उनमें डाल कर यमदूत उन्हें भूनते हैं। जो वेदद्रोही मातृ-पितृ तथा ब्राह्मण द्रोही पुरुष अनेक पाप करते हैं तथा पशुओं को काटकर

राँधते हैं, वे जितने सहस्र वर्षों तक कालसूत्र नामक नरक में पचते रहते हैं, जितने कि उस पशु के शरीर में रोयें होते हैं। उस नरक में दश हजार योजन की ताँवे की भूमि होती है। वह अग्नि से तप कर लाल बनी रहती है। उस पापी पुरुष को उस अग्नि के समान लाल हुई भूमि पर दौड़ाते हैं। वह कभी बैठता है, कभी लेटता है, कभी खड़ा हो जाता है। इस प्रकार चिरकाल तक क्लेश सहता रहता है।

जो पाखण्डी पुरुष केवल पाखण्ड के लिये, जिह्वास्वाद के लिये यज्ञों का बहाना करके देवी-देवता के नाम से पशुओं की बलि देते हैं और उनके मांस को स्वाद से खाकर अपने मांस को मोटा करते हैं, वे मरकर विशसन नामक नरक में जाते हैं। वहाँ उनके अङ्ग प्रत्यङ्ग बार-बार काटे जाते हैं, फिर जुड़ जाते हैं, इस प्रकार उन्हें निरन्तर पीड़ा दी जाती है।

जो दुष्ट पुरुष तामस भैरव, यक्ष राक्षसों के निमित्त नरमेध आदि पाखण्ड यज्ञ करके पशु की या नर पशु की बलि देते हैं, और उनके मांस को खाते हैं, वे पुरुष हों या स्त्रियाँ, मरकर घोर नरकों में जाकर वे भी उसी प्रकार काटे जाते हैं। जिन्हें काटा है, वे उन्हें ही काट-काटकर उनका रक्त पान करते हैं, मांस खाते हैं। व्याधों के समान काटते समय वे बड़े हर्षित होते हैं।

जो राजकर्मचारी निरपराध को लोभ-वश दण्ड देते हैं, ब्राह्मणों को अपराध पर भी शारीरिक दण्ड, फाँसी आदि देते हैं, वे मर कर सूकर मुख नामक नरक में जाते हैं, वहाँ यम के दूत उन्हें कोल्हू में डालकर पेरते हैं। जैसे गन्ने पेरे जाते हैं, वैसे ही उनके अङ्ग जब पिचकर कुचलते हैं, तो वे हा-हा करके चिल्लाते हैं।

जो पुरुष पहिले तो पशुओं को विश्वास दिलाकर पाल लेते

हैं, फिर उन्हें काटकर खा जाते हैं, काँटे में या सलाक में छेदकर भूनते हैं, तो मरकर उनको भी उसी प्रकार भूना जाता है।
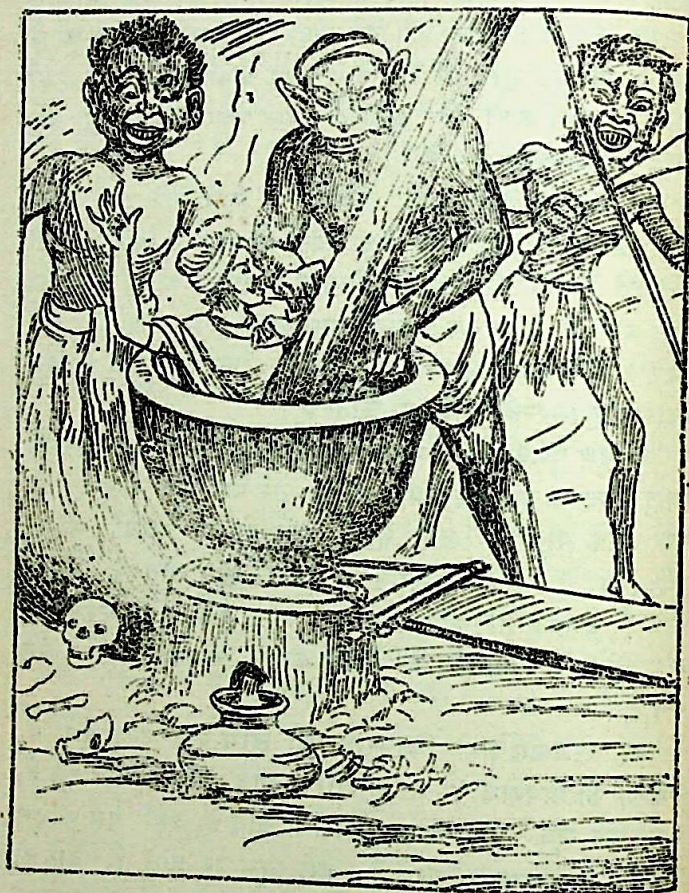
श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"महाराज ! अधिक क्या कहें, शक्ति भर किसी भी जीव की हिंसा न करनी चाहिये। यहाँ तक कि खटमल, जुएँ, सर्प, बिच्छू इनको भी न मारना चाहिये।"

यह सुनकर राजा ने कहा—"भगवन्! यह तो आप अब सीमा का उल्लंघन कर रहे हैं। दुष्टों को दण्ड देना धर्म है, पुण्य है। जो प्रत्यक्ष हमारे शरीर का रक्तपान कर रहा है, हमें क्लेश पहुँचा रहा है, उसे न मारना कहाँ का पुण्य है? तब तो हम लोग युद्ध में शत्रुओं को मारते हैं, उन्हें मारना भी पाप है?"

इस पर गम्भीर होकर श्रीशुक बोले—"नहीं, राजन्! युद्ध में सम्मुख शस्त्र लेकर लड़ने वाले शत्रु को मार देना पाप नहीं। वह तो क्षत्रियों का धर्म है पुण्य कार्य है। आततायी को मारना भी धर्म है। गाँव में, घरों में आग लगा देने वाले, विष देने वाले, अन्याय पूर्वक हाथ में शस्त्र लेकर बध के लिये उद्यत हुए पुरुष, धन अपहरण करने वाले, किसी के खेत को या स्त्री को बलपूर्वक छीन लेने वाले ये छः आततायी कहाते हैं। इन्हें मार डालने में कोई पाप नहीं, पुण्य ही है। किन्तु राजन्! खटमल जुओं ने क्या बिगाड़ा है? वे तो जीना चाहते हैं, रक्त पान करना उनकी वृत्ति है, स्वभाव है। उन्हें अधिक से अधिक इतना ही करे, किन्हीं उपायों से अपने शरीर से पृथक् कर दे।

राजा ने कहा—"भगवन्! तब तो मनुष्य कहाँ तक हिंसा से बचे। घाव में कीड़े पड़ जाते हैं, उन्हें औषधियों से न मारे तो सम्पूर्ण शरीर सड़ जाय। पेट में बहुत से छोटे-छोटे असंख्यों कृमि पड़ जाते हैं, जो मल के साथ निकलते हैं, उन्हें औषधि से न मारे तो जीवन ही न रहे। हिंसा के बिना तो रह ही नहीं सकते।"

इस पर श्रीशुक बोले—"महाराज, यह बात नहीं, जो विवशता है, उसके लिये क्या किया जाय। शक्ति भर व्यर्थ हिंसा न करनी चाहिये, जितना बच सके हिंसा से बचो। देखिये, बहुत से साधु संत शरीर से मच्छरों को नहीं हटाते, जुओं को बाहर नहीं

फेंकते। घाव के कीड़े गिर जाते हैं तो उन्हें उठाकर फिर घाव में रख लेते हैं। बहुत कच्चे फलों में अधिक हिंसा होने के भय से पेड़ से गिरे फलों को ही खाकर रहते हैं। बहुत से हरे पत्तों में अधिक हिंसा समझकर सूखे पत्ते खाकर ही जीवन धारण करते हैं। इतना ही है शक्ति भर हिंसा से बचे। जो जिसको कष्ट देगा, नरक में उसे उसका फल भोगना पड़ेगा। इस प्रकार हिंसकों के और भी अनेकों नरक हैं, उनका वर्णन मैं कहाँ तक करूँ। अब आप दूसरे नरकों का वर्णन सुनिये।"

छप्पय

मारे जीवनि सदा मांस ते तनकूँ पोसे।
क्रोध मोह वश भये रक्त प्राणिनि की सोषे॥
चाहें जीवो जीव तिनहिं हट करि जो मारे।
ते पापी तनु त्यागि तुरत ई नरक सिधारे॥
औरनि की दुरगति करी, कोटि गुनी तिनकी भई।
कुटे पिटे भूखों मरे, सहें यातना नित नई॥

नारकीय गतियों का वर्णन

[३४७]

लोके व्यवायामिषमद्यसेवा
नित्यास्तु जन्तोर्न हि तत्र चोदना।
व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञ-
सुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा ॥*

(श्रीभा० ११ स्क० ५ अ० ११ श्लोक)

छप्पय

हिंसा, परतिय गमन, मांस मदिरा को सेवन।
महापाप ये कहे फँस्यो इनमें जिनको मन ॥
ते नर पापी महा दुःख जग माँहिँ उठावें।
छटपटाइ कें मरें फेरि नरकनि महँ जावें ॥
नाना दुख सहि अन्त महँ, सूकर कूकर योनि धरि।
चौरासी के चक्र महँ, भ्रमैं बिबिध बिधि कर्म करि ॥

कर्म कोई न बुरे हैं न अच्छे, उनमें आसक्ति ही सुख-दुःख

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! लोक में स्त्री-प्रसंग, मांसभक्षण तथा सुरापान में लोगों की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। शास्त्रों में इनके लिये कोई आज्ञा नहीं है। ये जो विवाह करके निज स्त्री में, बलि-प्रधान यज्ञों में, सौत्रामणि आदि मखों में जो मैथुन, मांस और सुरा का विधान है, उनका तात्पर्य भी ग्रहण में न होकर इनसे निवृत्त कराना ही शास्त्रकारों का वास्तविक अभिप्राय है।"

में कारण है। जीवों की स्वाभाविक प्रवृत्ति संसारी विषयों में ही होती है। उस प्रवृत्ति को संयम में रखना यही धर्म है। उसे असंयत छोड़ देना मनमानी करना यही अधर्म है। जो जिसका उत्पत्ति-स्थान है, उसमें उसकी स्वाभाविक आसक्ति होती है। जैसे हमारा जन्म माथुर मण्डल में है, तो उस भूमि में हमारा सहज स्नेह होगा। इसीलिये स्त्री पुरुषों की व्यवसाय में, मैथुन में स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, इसे सिखाने पढ़ाने की आवश्यकता नहीं। यह शरीर मांस के सारभूत रज-वीर्य से बना है, अतः लोगों की अन्नसार स्वादु पदार्थों में स्वतः प्रवृत्ति होती है। इसी प्रकार मनुष्य कुछ देर को संसार को भूलकर कुछ आत्म-विस्मृति चाहता है। योग करके समाधि लगाना जग को भुला देना तो कठिन है, इसीलिये मनुष्य किसी-न-किसी मादक द्रव्य का किसी-न-किसी रूप में सेवन करना चाहते हैं। इन स्वाभाविक प्रवृत्तियों को आप्त वचनों, शास्त्र वाक्यों द्वारा संयम में लाना, इसी का नाम धर्म है। इन पर कोई रोक थाम न लगाकर इन्द्रियों को स्वच्छन्द विषयों में छोड़ देना, मनमाने ढङ्ग से विषयों में प्रवृत्त हो जाना, यही अधर्म है। पहिले जब सत्ययुग में सबकी स्वाभाविक रुचि धर्म में थी, तब न कोई नियम था न विवाह-बन्धन। न नरक थे न रोग, न यम थे न मृत्यु। जब पाप ही नहीं, तो मृत्यु भी नहीं। मृत्यु नहीं तो नरक भी नहीं, दुःख भी नहीं। यमराज की क्या आवश्यकता। लोग स्वर्ग में चले जाते, फिर लौट आते। देवताओं मनुष्यों में कोई भेद ही नहीं था।

भाईचारे का व्यवहार था, तुम हमारे यहाँ आओ हम तुम्हारे यहाँ जायँ। शनैः-शनैः मनुष्यों में पाप की वृद्धि हुई, तो उन्हें दण्ड देने के लिये ब्रह्मा ने यम नामक एक नए लोकपाल बनाये। यमराज ने कहा—"महाराज! मैं कहाँ-कहाँ पापियों के पीछे

घूमता फिरूँगा। मेरे समीप पापियों को लाने को कोई दूत दीजिये।" तब एक ब्राह्मण तपस्या कर रहा था। ब्रह्माजी ने उसे उलटी सीधी पट्टी पढ़ा लिखा कर, वरदान आदि का लोभ देकर धर्मराज (यमराज) का मन्त्री बना दिया। उसका नाम मृत्यु था। मृत्यु ने कहा—"यह तो बड़े अपयश की बात है, आप प्राणियों को मारने का काम मुझे क्यों देते हैं? सब मुझे बुरा भला कहेंगे, गालियाँ देंगे। तब ब्रह्माजी ने रोगों की उत्पत्ति की और कहा—"अच्छी बात है, इन रोगों के द्वारा ही तुम प्राणियों को पकड़कर लाना। इन्हें निमित्त कारण बना लोगे तो फिर तुम्हें कोई न कोसेंगे।" जब पापियों और पुण्यात्माओं को मृत्यु यमराज के समीप ले जाने लगे, तो पुण्यात्माओं को तो सीधे स्वर्ग में भेज देते, पापात्माओं के लिये नरकों की रचना हुई। जितने पाप उतने नरक। यह संक्षिप्त में नरकों की रचना की कहानी है। इस आध्यात्मिक आख्यायिका का गूढ़ रहस्य ज्ञानी ही समझ सकते हैं।"

धर्म अधर्म में शास्त्र ही प्रमाण है। कौन कार्य कर्तव्य है कौन अकर्तव्य है, तर्क से सिद्ध नहीं हो सकता। यदि परपीड़न-दूसरों को क्लेश देना ही पाप हो तो परस्त्री गमन में तो वह नहीं, किन्तु यह महापाप है। जो धर्म की मर्यादा को भेदन करते हैं वही पापी हैं।

स्वाभाविक वृत्ति को संयम में रखने का ही नाम धर्म है। मनमानी वृत्तियों के पीछे कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान न रखकर मनमानी करना इन्द्रियों के अधीन होकर स्वेच्छाचार करना अधर्म है। स्त्री पुरुषों को अपने उत्पत्ति स्थानों में—मैथुन में स्वाभाविक प्रवित्ति होती है। धर्म उसे कहता है, यदि तुम इस वृत्ति को रोक सको, इससे निवृत्त हो सको तो सर्वश्रेष्ठ, यदि निवृत्त न हो सको तो शास्त्रीय विधि से धर्मपूर्वक विवाह कर लो। ऋतु-

काल में अपनी भार्या में ही सन्तान की इच्छा से गमन करो। यह धर्म है। इसके अतिरिक्त परस्त्रीगमन अधर्म है। इसी प्रकार सबकी धर्म मर्यादा बाँधता है जो इस धर्म की मर्यादा को नहीं मानते उन्हें असिपत्रवन नामक नरक में जाकर नाना प्रकार के क्लेश सहन करने पड़ते हैं।"

श्रीशुक कहते हैं—"महाराज! जो द्विजाति के लोग मोहवश सुरापान करते हैं, उनके मुख में, नरक में गरम करके लोहा चुआया जाता है। राजन्! संसार में तीन ही सबसे बड़े पाप हैं, झूठ बोलना, अहंकार के वशीभूत होकर दूसरों को कष्ट पहुँचाना .हिंसा करना और परस्त्री गमन। महाराज, वैसे तो अपनी धर्म पत्नी के अतिरिक्त किसी की ओर भी कुदृष्टि से देखना महापाप है किन्तु गुरुस्त्री गमन तो ऐसा पाप है कि जिसका इस लोक में प्रायश्चित्त ही नहीं। महाराज! कन्या के साथ, विधवा के साथ परस्त्री के साथ गमन करने वाला पुरुष चाण्डाल के समान है। उसका मुख देखने से भी पाप लगता है। जो पुरुष अगम्या स्त्री के समीप गमन करता है अथवा जो स्त्री अगम्य पुरुष से व्यभिचार करती है, ऐसे स्त्री पुरुषों को यम के दूत नरक में ले जाकर अनेक प्रकार के कष्ट देते हैं। वहाँ बहुत सी लोहे की स्त्री-पुरुषों की मूर्तियाँ बनी रहती हैं, वे अग्नि से तपा कर लाल की हुई होती हैं। व्यभिचारी पुरुष को नग्न करके तपाई हुई लोहे की स्त्री से और व्यभिचारिणी स्त्री को तप्त लोह, पुरुष से बार-बार आलिङ्गन कराया जाता है।

जो स्त्री-पुरुष बिना विचारे जहाँ-तहाँ सभी के साथ स्वच्छन्द होकर अपनी कामवासना की पूर्ति करते हैं, वे वज्रकंटक शाल्मली आदि नरकों में ले जाकर बड़े-बड़े काँटों में नग्न करके घसीटे जाते हैं। उनके मर्म स्थानों में गरम सुइयाँ, काँटे भोंके जाते हैं। महाराज! जो उच्चवर्ण के सदाचारी नीच व्यभिचारिणी पतिता कुलटा

स्त्रियों के साथ पाप पूर्ण व्यभिचार करते हैं, पशुओं की तरह बिना विचार के दुराचरण करते हैं, उन्हें मरने पर यम के दूत
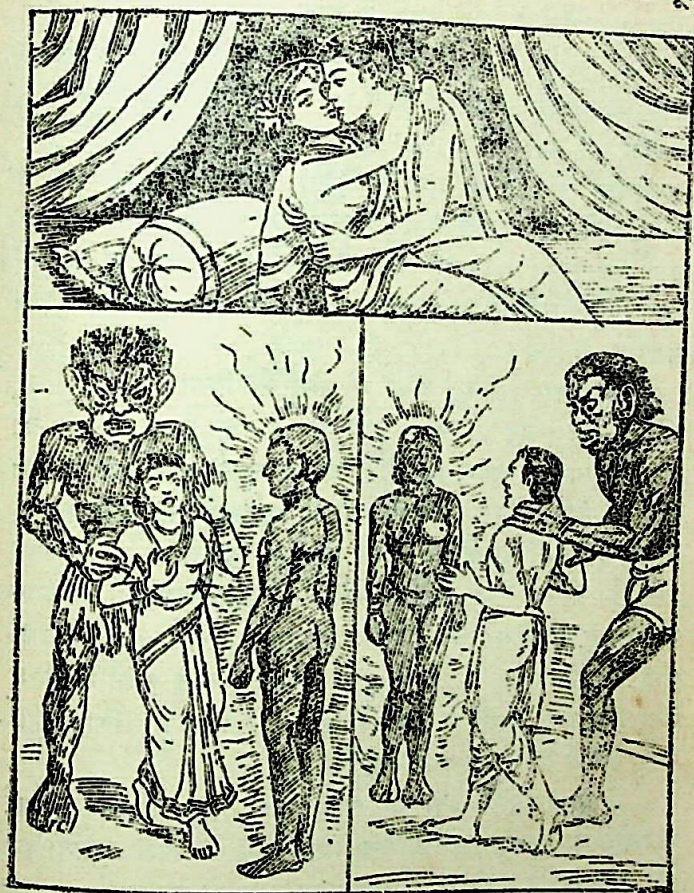
पीव के कुण्डों में, विष्ठा के तलाबों में, मूत्र और कफ भरे गड्ढों में डाल देते हैं। जहाँ वे मूत्र विष्ठा पीब को पीते-पीते बिल-बिलाते तड़फड़ाते रहते हैं। राजन्! अपने गोत्र की कन्या अपनी

बहिन के समान होती है, ऐसी कन्याओं या स्त्रियों से जो समागम करते हैं, उन पापियों को यमदूत लालाभक्ष नामक नरक में ले जाकर वीर्य से भरे कुण्डों में डाल देते हैं और उनके मुँह में वीर्य भर देते हैं। उसे ही खाने पीने को देते हैं। राजन् ! अधिक कहाँ तक वर्णन करें, जो लोग इन नरकों से बचना चाहें, उन्हें भूलकर भी परस्त्री की ओर कुदृष्टि से न देखना चाहिये और जो स्त्रियाँ अपना कल्याण चाहें इन नरकों की यातनाओं से पृथक् रहने की इच्छा करें, तो उन्हें अपने पति को छोड़कर सभी बड़े पुरुषों को सगे पिता के समान बराबर वालों को सगे भाई के समान और छोटे बच्चों को अपने और पुत्रों के समान समझना चाहिये।

इसी प्रकार राजन् ! दूसरे की वस्तु को बिना पूछे उठा लेना, चोरी करना—यह भी सबसे बड़ा पाप है। जो पुरुष दूसरों का धन, स्त्री अथवा अन्य प्रिय वस्तुओं को उनसे छीन लेता है चुरा लेता है, उसे तामिस्र नरक में जाकर असह्य यातनायें सहनी पड़ती हैं। वहाँ उसके चूतड़ों पर निरन्तर सड़ासड़ कोड़े पड़ते रहते हैं। जो चोरी करता है, दूसरों का धन लूटता या घरों में आग लगाता है, लोगों को विष दे देता है या डाँके डालता है, वह वज्र-द्रन्ष्ट्र नामक नरक में जाकर पैनी-पैनी दाँढ़ वाले कुत्तों से निरन्तर कटवाया जाता है। वह चिल्लाता है, रोता है, किन्तु निरन्तर उसे ये वेदनायें सहनी पड़ती हैं।

जो पुरुष किसी स्त्री या पुरुष को धोखा देकर उसका उपभोग करता है, उसे अन्धतामिस्र नरक में डाला जाता है। जो अहङ्कार के वशीभूत होकर मोहवश अपने कुटुम्ब के पालन के निमित्त अनेक प्रकार के पापों को करता है, वह महारौरव नरक में रुरु नामक सर्प से भी क्रूर जन्तुओं द्वारा कटाया जाता है। जो किसी को कुछ न देकर कुछ भी परमार्थ न करके केवल

अपने शरीर को ही मोटा ताजा बनाने में लगा रहता है, अपनी देह को ही सब कुछ समझता है, वह महारौरव नरक में पड़ता
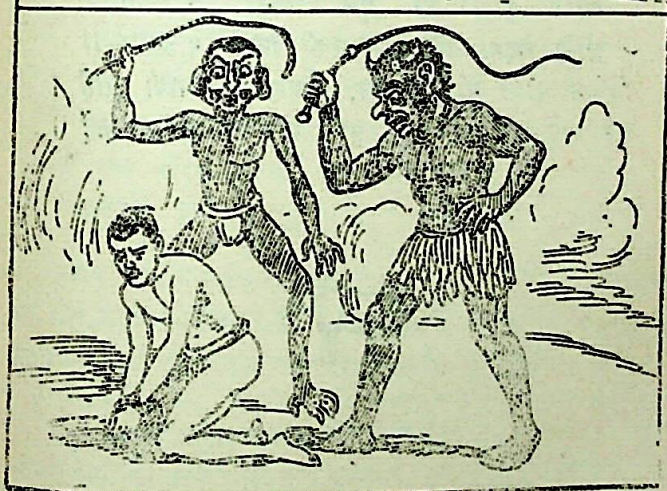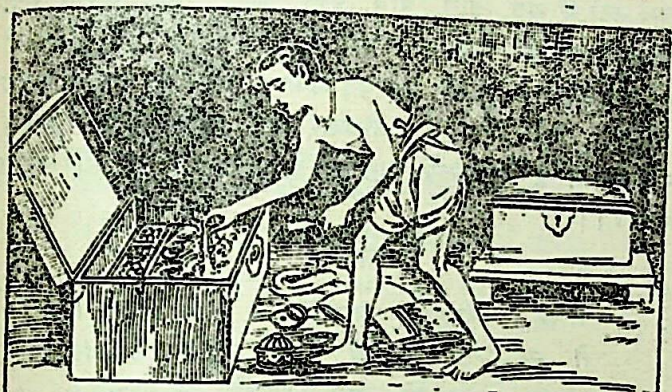
है। वहाँ, रुरु नामक बहुत से जीव उसकी बोटी-बोटी काटकर खाते हैं। फिर शरीर जुड़ जाता है, फिर काटते हैं। यह व्यापार सहस्रों वर्षों तक नित्य होता है। जो राजा या राजपुरुष धर्म

की मर्यादा का पालन नहीं करते, पाप करते हैं, अवैध उपायों से प्रजा से द्रव्य लेते हैं, वे मरकर वैतरणी नदी में डूब जाते हैं। उस नदी में मूत्र, विष्ठा, पीव, रक्त, केश, नख, अस्थि, मेद, मांस, वसा, कफ वीर्य आदि घृणित पदार्थ बहते रहते हैं। उन्हें ही वह खाता है। उसमें बड़े-बड़े मकर, घड़ियाल रहते हैं। वह जीते ही उसके मांस को नोचकर खाते रहते हैं। इस प्रकार राजन्! नरक में असंख्यों यातनायें हैं। इनका आगे और वर्णन करूँगा।

छप्पय

परधन, परसंतान परस्त्री जे ले जावें।
ते नर रौरव नरक परें अति दुःख उठावें॥
चोरी जारी करें मूत्र विष्ठा ते खावें।
होहि बेदना अधिक नारकी फिरि पछितावें॥
बिबिध भाँति की यातना, परवश ह्वै पापी सहें।
करे पाप च्यौं दुष्ट अस, पुनि पुनि यम किंकर कहें॥

महापाप और महानारकीय यातनायें

[३४८]

दृष्टश्रुताभ्यां यत्पापं जानन्नप्यात्मनोऽहितम् ।
करोति भूयो विवशः प्रायश्चित्तमथो कथम् ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० १ अ० ६ श्लोक)

छप्पय

विप्र हनन, मदपान कनक की चोरी करिबो ।
कामातुर ह्वै पूज्य अंगना शय्या चढ़िबो ॥
इन पापनि में रहें सङ्ग सोवें और खावें ।
ये पाँचहुँ है महापातकी मनुज कहावें ॥
ये सब मरिके नरक मह, महायन्त्रणा नित सहें ।
चिल्लावें रोवें, गिरें, हा मैया बप्पा कहें ॥

आप मानें-न-मानें पाप का फल भोगना ही पड़ेगा। इन्द्रियों को तृप्त करने को जितने ही उपाय करेंगे, वासनायें उतनी ही बढ़ेगीं। बढ़ी हुई वासनायें ही यन्त्रणा की सृष्टि करते हैं।

---

* महाराज परीक्षित् श्रीशुकदेवजी से पूछते हैं—"भगवन् ! मनुष्य प्रत्यक्ष पापों का दण्ड आदि फल देखता है, शास्त्रों में नरकादि यातनाओं को सुनता है और यह जानता भी है कि इनके द्वारा मेरा अहित होगा किन्तु फिर भी विवश होकर बारम्बार उन्हीं पापों को करता है। तब फिर इन पापों का प्रायश्चित कैसे हो।"

वासनाओं के अधीन होकर जो जितना सुख चाहेगा, उसे उतना ही दुःख मिलेगा। वासना एक ऐसी प्रज्वलित अग्नि है, कि इसमें विषय रूप हवि या घृत जितना ही अधिक डालोगे उतना ही इसका वेग बढ़ेगा।

श्रीशुक कहते हैं—"राजन्! जो द्विज होकर कूकर-शूकर गर्दभ मुर्गे आदि विष्ठाभोगी अशुचि जीवों को पालता है, नित्य हिंसा में निरत रहता है, उसे नरक में यमदूत तीक्ष्ण वाणों से सदा वेधते रहते हैं। जो पुरुष राजद्वार में किसी की झूठी साक्षी दे आते हैं, उन्हें अवीचिमत् नरक में ले जाकर सैकड़ों योजन ऊँचे पर्वत से नीचे गिराया जाता है। जो बड़े अभिमानी हैं, घमंडी हैं, अपने को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं, उन्हें क्षार कर्दम नरक में ले जाकर अत्यन्त खारे पानी की कीच में डाल दिया जाता है, निरन्तर नमक पिलाया जाता है और उसके कटे अङ्ग पर नमक बुरका जाता है, नमक में बार-बार डुबाया और निकाला जाता है। जो पुरुष अत्यन्त क्रोध करके दूसरों को उद्वेग पहुँचाते हैं उन्हें दन्दशूक नामक नरक में डाल देते हैं। वहाँ पाँच-पाँच सात-सात मुखों वाले सर्प उसे निरन्तर काटते रहते हैं। राजन्! जो पुरुष किसी पर विश्वास नहीं करता, अकारण सब पर व्यर्थ में सन्देह ही करता रहता है, ऐसे धन लोभी, अविश्वासी, धन को ही सर्वस्व समझने वाले पापी पुरुष मर कर सूचीमुख नामक नरक में जाते हैं। वहाँ यमराज के दूत उन्हें उसी प्रकार सूचियों से सीते हैं, जैसे सूचक सुई से वस्त्रों को सीता है।"

यह सुनकर शौनकजी ने सूतजी से कहा—"सूतजी! इन नरकों की कथा सुनते-सुनते तो हमारे रोंगटे खड़े हो रहे हैं। महाभाग! अब इनका वर्णन समाप्त कीजिये। पाप तो असंख्यों हैं। आप हमें बड़े-बड़े जो महापाप हों, उन्हें सुनाइये। फिर जिनसे बचने की हम सर्वदा चेष्टा करें।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"मुनियो! मैंने कह तो दिया पापों की कोई संख्या नहीं। फिर भी पाँच महापाप कहलाते हैं।
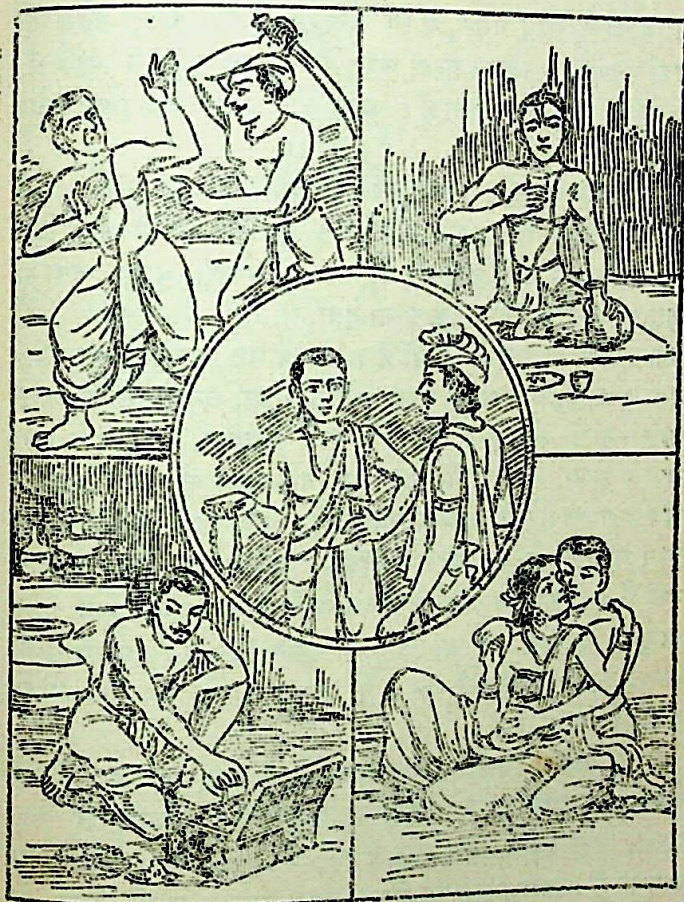
१–ब्रह्महत्या, २–द्विज होकर मदिरा पान करना, ३–सुवर्ण रत्नों की चोरी करना, ४–गुरु की स्त्री के साथ गमन करना, ५–और

इन चारों महापापियों का निरन्तर साथ करने वाला ये सभी महापापी कहलाते हैं। साक्षात् ब्राह्मण की हत्या करना, प्रत्यक्ष मदिरा का पान, सुवर्ण को ही चुरा लेना, अपने गुरुदेव आचार्य की भार्या के साथ गमन, ये तो महापाप हैं ही, किन्तु इतने ही नहीं। इन्हीं के समान इन्हीं कष्ट के समकक्ष बहुत से पाप हैं, उनमें से कुछ मैं बताता हूँ। आप लोग इन्हें ध्यानपूर्वक श्रवण करें।

ब्राह्मण वेदज्ञ सदाचारी ज्ञानी विज्ञानी अथवा कैसा भी हो उसकी हत्या करना महापाप है। एक पंक्ति में भोजन के लिये बैठे हुए लोगों में से कुछ को तो अच्छी-अच्छी वस्तुएँ देता है, कुछ को खराब देता है, कुछ को देता ही नहीं। ऐसा पंक्ति भेदी ब्रह्म हत्यारे के समान पापी है। केवल पेट भरने को ही रसोई बनाने वाला, ब्राह्मणों में दोष लगाने वाला, उनकी निन्दा करने वाला, नीचों को भृत्य बनाकर नीच आदेश ब्राह्मणों के द्वारा भेजने वाला, वेदों को लिखकर या उनके फलों को बेचने वाला ये सब ब्रह्म हत्यारे के समान पातकी हैं। पहिले तो किसी आशावान् ब्राह्मण को बुलाकर कह दिया--"ब्राह्मणदेव ! आप विश्वास रखें मैं आपको इस कार्य के करने के लिये इतना धन दूँगा, आप अमुक दिन मेरे घर आ जाना।" उस दिन जब वह जाय तो समर्थ होने पर भी उसे धन न दे, उलटा उसका अपमान करे तो वह भी ब्रह्मघाती है।

जो ब्राह्मण किसी तीर्थ में स्नान करने जा रहा हो, किसी देवता का पूजन करने जा रहा हो, उसमें जो नीचता से विघ्न डाले, उन्हें स्वार्थ वश रोक ले उसे ब्रह्महत्या के समान पाप लगता है। सदा दूसरों की निन्दा करने वाला, अपने आप ही अपनी निरन्तर बड़ाई करने वाला, सदा सर्वदा असत्य भाषण करने वाला ये सब ब्रह्मघाती के समान पातकी माने गये हैं।

कोई आदमी अधर्म कर रहा हो, उसका जो अनुमोदन करता है, जो दूसरों को सदा उद्वेग पहुँचाता रहता है, जो दूसरों के

निरन्तर दोष ही ढूँढ़-ढूँढ़ कर उन्हें लोगों से कहता रहता है, जो दम्भाचार पाखंड मार्ग में निरत है, जो तीर्थों में या ग्रामों में

निरंतर ही दान माँगता रहता है, जब भी जैसा भी दान मिल जाता है, उसे ही ग्रहण कर लेता है, जो नित्य ही जीवों की हिंसा करता रहता है—प्राणियों का वध करना ही जिसका व्यापार है, ये सब-के-सब ब्रह्महत्यारे के समान पापी हैं, इन्हें दूर से ही दंडवत् कर दे। भरसक ऐसे लोगों का संसर्ग न करे।

अब सुरापान की बात सुनिये। मदिरा ऐसी भ्रष्ट वस्तु है कि यह सब विवेक को नष्ट कर देती है। इससे अशुद्ध वस्तु संसार में कोई न होगी। जैसे स्त्री पुरुषों के शरीर में विष्ठा, मूत्र कफ, कान, नाक, का मल, हड्डी, रक्त, मांस, मज्जा, थूक, खकार, लार, रज, वीर्य, नख, केश, एक-से-एक घृणित अशुद्ध वस्तु हैं, वैसे ही जो सड़ी गली वस्तुएँ हैं, उन्हीं से सुरा बनायी जाती है पीते ही मनुष्य को उन्मत्त बना देती है। मदिरा पीने से काम वासना बहुत बढ़ जाती है। लज्जा चली जाती है। जो स्त्री पुरुष स्वाभाविक लज्जा के कारण पाप में प्रवृत्त नहीं होते उन्हें दुष्ट लोग मदिरा पान कराके अपने वश में कर लेते हैं। मदिरा पान करने से रक्त में उष्णता आ जाती है, रज वीर्य की बाहर निकलने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होने लगती है। उसके मद में पुरुष कामवासना के साधनों को खोजता है। जो भी सामने आ जाता है, उसी से निर्लज्ज होकर पापाचरण का प्रस्ताव करता है। वेश्याएँ निरन्तर सुरापान से ही पाप में प्रवृत्त रहती हैं। उनके यहाँ जो आता है, सभी को सुरापायी बनाती हैं। सुरापी वेश्यागामी न हो, यह आश्चर्य की बात है सुरापान करने का फल ही होता है वेश्यागमन, जूआ का व्यसन और दूसरों को धोखा देकर धन अपहरण करना। मदिरा के उन्माद में आदमी न करने योग्य कामों को कर जाता है, उसमें ऐसी धुनि बँध जाती है कि आदमी व्यस्त हो जाता है। उससे कभी तृप्ति होती ही नहीं। जहाँ मद उतरा कि फिर इच्छा होती है। न मिलने पर

पुरुष अनेकों पापों में प्रवृत्त होता है, सब कुकर्म करके भी वह सुरापान करने की इच्छा रखता है। ऐसी अशुद्ध वस्तु को भी पीकर अभागे लोग इस जीवन को भी दुःखमय बनाते हैं और मरकर नरक में भी नाना यातनाओं को सहते हुए असंख्यों क्लेश उठाते हैं।

महाराज पहले सामान्यतया तथा वृक्षादि से निकालकर औषधियों के सार से सुरा निकालकर लोग पीते थे। एक बार असुरों ने अपने गुरु शुक्राचार्य को उनके प्रिय शिष्य—बृहस्पति के पुत्र कच को मारकर जलाकर उसके देह की राख सुरा में मिलाकर उन्हें पिला दी। पीने पर उन्हें ज्ञात हुआ अरे, इससे तो मेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी। यह तो कोई अत्यन्त घृणित अशुद्ध वस्तु है। उसी समय उन्होंने संसार में यह मर्यादा बना दी कि आज से जो द्विज—ब्राह्मण सुरापान करेगा, उसे ब्रह्महत्या के समान पाप लगेगा। राजन्! वैसे तो मदिरापान सभी के लिये निषेध है, किन्तु ब्राह्मण को तो उसे स्पर्श भी न करना चाहिये। जो ऐसा करता है, वह सबसे बड़ा पातकी है। प्रत्यक्ष सुरापान के समान ही और जो पाप हैं, उन्हें भी मैं आपके सम्मुख कहता हूँ, आप इन्हें दत्तचित्त होकर श्रवण करें।

वेश्याओं के घर भोजन करना, वेश्याओं का संसर्ग ये सुरापान के ही समान हैं, अतः भूलकर भी वेश्याओं की संगति न करनी चाहिये। जो पतित हैं, पापवृत्ति करने वाले हैं, चोर, जुआरी, सुरापी, जीवहिंसक हैं, उनके घर उनके साथ भोजन करना यह भी सुरापन के सदृश पाप है। आरम्भ की हुई उपासना को मोहवश छोड़ देना, मूर्तियों को पुजाकर उनसे आजीविका चलाने वालों के घर का भोजन, जो स्त्री सुरापान करती हो, उससे संसर्ग करना, नीचों के बुलाने पर उनके यहाँ

भोजन करना, आदि-आदि पाप सुरापान के समान ही माने गये हैं।"

चोरी तो तृण की भी बुरी है, पाप है, फिर भी वस्तु की महत्ता की-महत्ता से, चोरी की महत्ता बढ़ जाती है। व्यापार करना तो वैश्यवृत्ति है, किन्तु सुवर्णकार की इतनी निन्दा शास्त्रकारों ने क्यों की है, इसीलिये कि सुवर्णकार बिना सुवर्ण की चोरी किये मानता नहीं। सुवर्ण की चोरी करता है तो महापापी है, इसीलिये उसका संसर्ग वर्जित है।

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! यदि वह चोरी न करे, तब तो संसर्ग में कोई दोष नहीं?"

सूतजी ने कहा—"हाँ, महाराज! तब तो दोष वाली कोई बात नहीं, किन्तु महाराज, ऐसा होता नहीं। करोड़ों में कोई ऐसा होगा। फिर स्वयं न करे दूसरे सुवर्ण चोरी करने वालों से उसका रोटी-बेटी का, भोजन व्यवहार का संसर्ग तो रहेगा ही महाराज, जैसे व्यापारी बिना तिकड़म लगाये, बिना भूठ सच बोले कोई विरला ही रहता है, ऐसे ही कोई विरला ही सुवर्णकार चोरी से बचता है। इस विषय में एक मनोरञ्जक उपाख्यान सुनिये।"

एक राजा थे, उन्हें सुवर्ण की वस्तुएँ, पात्र, आभूषण बनवाने का बड़ा व्यसन था। बहुत से सुवर्णकारों को उन्होंने दूर-दूर से बुलाकर अपने यहाँ बसाया था। एक दिन उन्होंने सबको बुलाया और हँसते हुए पूछा—"क्यों भाई, तुम सत्य-सत्य बताना रुपये के कै आने सुवर्ण की चोरी तुम करते हो?" किसी ने कहा—"महाराज! हम नहीं करते। किसी ने रुपये में एक आने, किसी ने दो आने, चार आने, आठ आने, बारह आने बताये। एक ने कहा—"महाराज! मैं तो रुपये में पौने सोलह आने चोरी करता हूँ।"

राजा के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। वे बड़े विस्मय के साथ बोले—"आँखों के सामने तुम चुरा लोगे ?"

उसने हँसकर कहा—"तब फिर महाराज! कला ही क्या रही। आँखों के पीछे छिपकर घर फोड़कर तो डरपोक चोर चुराते हैं। हमारी चोरी-चोरी थोड़े ही है, यह कला है।"

राजा ने कहा—"अच्छी बात है, तुम्हारी परीक्षा है। पाँच सेर सुवर्ण की यहाँ मूर्ति बनाओ, हमारे सामने बैठकर। तब देखेंगे तुम रुपये में पौने सोलह आने कैसे चुराते हो ?"

सुवर्णकार ने कहा—"बहुत अच्छा महाराज! जैसी आज्ञा। मैं दरबार के सामने ही बनाऊँगा।" महाराज को उसके साहस पर बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने एक सबसे विश्वासपात्र बूढ़े मन्त्री को बिठाया। चार पुराने विश्वासपात्र सिपाही वहाँ बैठा दिये। राजा ने आज्ञा दे दी—"जब यह आवे, तब इसकी नंगा-झोरी ले लो। सदा इसके हाथ की ओर देखते रहो। जाय तब रत्ती-रत्ती हमारे सामने देखो। इसकी सब वस्तुओं को हमें दिखाकर पेटी में बन्द करो। चाभी हमारे पास रहेगी।"

बूढ़े मन्त्री ने राजा की आज्ञा बड़ी तत्परता से पालन की। सभी को बड़ा कुतूहल था इसलिये सभी हृदय से उसकी देख रेख रखने लगे। वह दिन में काम करता, सायंकाल को राजा स्वयं आते, उसकी अपने सामने नंगझोरी लेते, सुवर्ण को तुलवाते, बंद करते, चाभी अपने पास रखते। सुवर्णकार चला जाता। दिन भर तो वह यहाँ काम में लगा रहता, रात्रि में ठीक वैसी ही एक पीतल की मूर्ति उतने ही नाप की अपने घर पर बनाता।

कुछ काल में दोनों मूर्तियाँ बनकर तैयार हो गईं। राजा बड़े प्रसन्न थे, मेरे यहाँ इसकी धूर्तता न चलेगी। जब मूर्ति तैयार हो गई, तो उसके ऊपर सुहागा सिंदूर लपेटकर बोला—"दस सेर

खट्टा दही मुझे आज चाहिये जिसमें यह मूर्ति डूब सके। इससे निखर जायगा, चमक आ जायगी, फिर कल तैयार हो जायगी।" मंत्री ने दही मंगाया, सुवर्णकार ने स्वयं चाखा सबको चखाया और बोला—"यह तो खट्टा है नहीं, मुझे इससे खट्टा चाहिये।" दैवयोग की बात कि एक अहीरिनी एक बहुत बड़े पात्र में दस—"बारह सेर दही लेकर आ गई। वह अहीरनी और कोई नहीं थी उस सुवर्णकार की भोली-भाली लड़की ही थी। उस दही के पात्र में जो सुवर्णकार ने अपने घर में पीतल की मूर्ति बनाई थी, जिस पर सुवर्ण का अत्यन्त सुन्दर पानी किया था, वह पड़ी थी। उसने आते ही लजाते हुए भोले स्वभाव से कहा—"दही लो दही, किन्तु तनिक खट्टा है।" राजसेवक तो विनोदप्रिय होते ही हैं। बोले—"खट्टे का यहाँ क्या काम, यहाँ तो मीठी वस्तु की आवश्यकता है।" यह बात मंत्री जी के कानों में पड़ी। उन्होंने अहीरनी को बुलाया। सुवर्णकार से कहा—"इसका दही देखो, सुवर्णकार ने चाखा। बड़ा प्रसन्न हुआ। बोला—"बस, बस, बस, यही दही काम का है, आप लोग चाखें।" पहरेवालों ने चखकर मुँह बनाया, नाक भौं सकोड़ी और कहा—"चूक खट्टा है।" लड़की चुपचाप भोली भाली बनी खड़ी रही। सुनार ने अपनी सोने की मूर्ति उसमें डाल दी। सुहाग सिंदूर, राख, मिट्टी न जाने क्या-क्या उसमें मूर्ति के संग डाल दी कि दही का रंग ही बदल गया। लाल-लाल बुरा हो गया। बड़ी देर तक मूर्ति को मलता रहा। लड़की चुपचाप खड़ी रही। फिर अपने ही आप सुवर्णकार मंत्री से बोला—"महाराज! इसे दाम दे दें यह चली जाय।"

उस लड़की ने विनय के साथ कहा—"मेरा पात्र भी मिल जाना चाहिये। मेरी माँ मुझे मारेगी। चिकना पात्र है।"

थोड़ी देर और मलकर सुवर्णकार ने वह सोने का पानी की

हुई चमचमाती पीतल की मूर्ति तो निकाल ली और सुवर्ण की उसी पात्र में छोड़ दी और उस लड़की से बोला—"ले जा, इस दही को वहाँ मोरी में फेंक दे।"

उसने विनय के साथ कहा—"मोरी में क्यों फेंक दूँ, आज्ञा हो तो मैं अपनी भैंस के लिये ले जाऊँ।"

मंत्रीजी ने शीघ्रता से कहा—"हाँ, हाँ ले जा ले जा, जा भाग जा। यह अपने दाम ले।" लेकर और उस दही के मटके को लेकर बनावटी अहीरनी चली गई। सब लोग मूर्ति की बड़ी प्रशंसा करने लगे। देखो दही में डालते ही कैसी चमचमाने लगी। सुवर्णकार ने उसे भली-भाँति मला। वस्त्र से कई बार पोंछा और बोला—"महाराज! को बुलाइये, मूर्ति तैयार है।"

महाराज बड़े उल्लास के साथ आये। मूर्ति को देखकर बड़े प्रसन्न हुए और हँसकर बोले—"कहो सुवर्णकारजी! कितना चुराया इसमें से?"

बड़ी नम्रता और सरलता से, सुवर्णकार ने कहा—"देव की जय हो, अपराध क्षमा हो। रुपये में से पौने सोलह आने ही चुराये हैं, अधिक नहीं।"

यह सुनते ही महाराज तो आश्चर्यमग्न हो गये वे मंत्री की ओर देखने लगे। मंत्री, प्रहरी सभी विस्मयाविष्ट थे। सुवर्णकार ने कहा—"देव, अन्य सुवर्णकारों को बुलाकर परीक्षा करा ली जाय।"

राजा ने बड़े-बड़े सुवर्णकारों को बुलाया, मूर्ति की परीक्षा कराई। सभी ने कहा—"महाराज! ऊपर जो यह पानी चमक रहा है, यह तो सोने का है, शेष सब मूर्ति शुद्ध पीतल की बनी है।"

राजा बड़े प्रसन्न हुए और बोले—"अच्छा भैया, तुम्हारी चोरी सचमुच कला है।"

सो मुनियो! चोरी चाहे प्रत्यक्ष की जाय या कला से की जाय है चोरी ही। घर फोड़ने में भी कला होती है। सबके सामने से द्रव्य-आभूषणों को ले जाना बड़े साहस का काम है, किन्तु यह है नरक का द्वार। प्रत्यक्ष सुवर्ण-चोरी के अतिरिक्त बहुत से सुवर्ण-चोरी के ही सदृश पाप हैं, उनको भी सुनिये।

कन्द, मूल, फलों की चोरी, कस्तूरी की, वस्त्रों की, रत्नों की चोरी ये सब सुवर्ण की चोरी के समान बताई है। ताँबा, लोहा, काँसा, घृत, शहद, सुगन्धित पदार्थ, चन्दन, रस आदि इन्हें चुराना भी सुवर्णस्तेय सदृश ही पातक कहे गये हैं। द्विज होकर श्राद्ध-तर्पण-त्याग, साधु-संन्यासियों की निन्दा करना, भोजन पदार्थ, अन्न, रुद्राक्ष, इन सब को चुराना भी सुवर्ण की चोरी के समान ही महापातक माने गये हैं।

साक्षात् गुरु स्त्री गमन तो महापातक है ही। इसके अतिरिक्त अन्न देने वाला, भय से छुड़ाने वाला, व्रत आदि की दीक्षा देने वाला, जनक (पिता) उपाध्याय इनकी भी गुरुसंज्ञा है। इनकी भार्याओं की ओर कुदृष्टि करना सबसे बड़ा पाप है। बहिन, बेटी, पुत्रवधू, गोत्र की स्त्री, कन्या, विधवा, रजस्वला, भौजाई, मित्र-पत्नी, अपने ऊपर विश्वास करने वाली, हीन जाति की, मद्य पीने वाली, किसी भी परपुरुष की स्त्री, इन सबके साथ संसर्ग करना गुरु-पत्नी गमन के समान ही घोर नरकों में ले जाने वाले हैं।

इन चारों का जो संग करते हैं, इनसे संसर्ग करते हैं वे भी पातकी हैं। अतः ऐसे धर्महीन आचारहीन पापी पुरुषों से शक्ति-भर सदा बचे रहना चाहिये। संसर्ग से गुण दोष अवश्य आ जाते हैं। इसमें शंका के लिये कोई स्थान ही नहीं। एक बार की

नहीं, लाख बार की, करोड़ बार की यह अनुभूति है। गुणों की अपेक्षा दुर्गुणों का प्रभाव शीघ्र पड़ता है।

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी! ऐसे तो मनुष्य किसी संसर्ग से वच ही नहीं सकता।"

सूतजी बोले—"भगवन्! यों तो संसार में अच्छे बुरे सदा से रहे हैं, सदा रहेंगे। संसर्ग दोष विशेषकर एक साथ खाने में, एक शय्या पर सोने में, एक वाहन पर सटकर एक साथ बैठने में, विवाह सम्बन्ध करने से ही लगता है। भरसक महापातकियों से ऐसा सम्बन्ध जान बूझकर न करें।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"महाभाग! सूतजी! इन पापियों को नरक में वे ही कष्ट सहने पड़ते हैं, जिन्हें आप पीछे कह आए हैं, या और भी कोई कष्ट होते हैं?"

सूतजी बोले—"महाराज! मैं बार-बार तो कहता हूँ। नरकों के कष्टों की, वहाँ की यातनाओं की कोई संख्या नहीं। अनेक प्रकार की यातनायें नरक में दी जाती हैं। जैसे—मल-मूत्र के कुण्ड में पड़कर उन्हें ही खाना पीना, उसी में पड़े रहना, तपाई हुई शिलाओं पर सोना, सेमर के काँटों में घसीटना रक्त के कूप में डुबाया जाना, रक्त को निरन्तर पिलाते रहना, अपने ही मांस को काट-काट कर खिलाना, अग्नि की प्रचण्ड लपटों में डाल देना, अग्नि के नीचे उलटा लटका देना, नीचे बिठाकर ऊपर से पत्थरों की निरन्तर वर्षा करते रहना, कीड़ों को ही भोजन कराना, खारे पानी में सुलाना, नमक ही खाने को देना, नमक ही पिलाना, देह को काट-काट कर उस पर नमक छिड़कना, आरे से शरीर को चीर-चीर कर टुकड़े करना, फिर जोड़ देना, सम्पूर्ण शरीर पर विष्ठा का लेप करते रहना विष्ठा ही खाने को देना, वीर्य के भरे कुण्ड में डाल देना, वीर्य को ही पिलाना नस-नस में ही सुइयों को भोंकना, पाशों से बाँध लेना

धूएँ के नीचे बिठाकर धूम्रपान कराना, पित्त, वमन, श्लेष्मा, कफ, लार इनको खिलाना, बड़े-बड़े वृक्षों से पर्वतों से नीचे गिराना पानी में डुबाकर ऊपर से पत्थर रख देना, काँटों पर सुलाना साँप बिच्छू विषवाली- चीटियाँ, शहद की मक्खियों से सम्पूर्ण शरीर को कटवाते रहना, सिंह, व्याघ्र, भैंसा, रीछ आदि से मरवाना, फड़वाना, अत्यन्त दुर्गन्धि कीच में सुलाये रहना, अत्यन्त कड़वी-कड़वी वस्तुओं को विना इच्छा के मुँह फाड़-फाड़कर पिलाते रहना गरम-गरम लोहे की छड़ों को मुँह में, गुप्त स्थानों में भोंकना, गरम-गरम तेल को पिलाना, पिलाकर गरम बालू पर सुलाना, अत्यन्त ठंडी में रात्रि भर बरफ के पानी से छींटे देते रहना, अत्यन्त गरमी में अत्यन्त उष्ण जल से स्नान कराते रहना, शनैः-शनैः दाँतों को तोड़ना, जीभ के टुकड़े-टुकड़े करना, गरम की हुई स्त्री पुरुषों की मूर्तियों से बलपूर्वक आलिङ्गन कराना, दो गरम लोहे की शिलाओं के बीच में दबाना, आदि-आदि अनेकों कष्ट हैं। भगवन्! कहाँ तक गिनावें। यहाँ इस लोक में हम उन कष्टों का अनुमान भी नहीं कर सकते। मरकर जब पापी उन नरकों में जाते हैं तब वे ही अनुभव करते हैं। राजा परीक्षित् के पूछने पर मेरे गुरुदेव भगवान् शुक ने अत्यन्त ही संक्षेप में असंख्यों नरकों और उनकी अगणित यातनाओं में से कुछ का दिग्दर्शन कराया है। इन्हीं से बुद्धिमान पुरुष औरों का भी अनुमान लगा सकते हैं।

श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित् से कहते हैं—"राजन्! पुराणों में इन नरकों का अत्यन्त विस्तार से वर्णन किया गया है। अब नरकों का ही वर्णन करता हूँ, तो यह "भागवती कथा" न होकर नारकीय-कथा हो जायगी। प्रसंगानुसार मैंने तुम्हें पापियों और नरकों का दिग्दर्शन करा दिया, नहीं तो नारकी जीवों की बातें करना भी पाप है। पाप से नरक होता है पुण्य

से स्वर्ग होता है, जो पाप करके उसका प्रायश्चित्त नहीं करते उन्हें अवश्य-अवश्य नरकों में जाना पड़ता है, कोई रोक नहीं सकता। अतः भूल से पाप भी बन जाय, तो उसका उसी समय प्रायश्चित्त कर लेना चाहिये। यह मैंने नरकों की बातें बताई, अब आप क्या सुनना चाहते हैं ?"

छप्पय

पापिनि को संसर्ग पापमय तुरत बनावै।
संतन को सत्संग कृष्ण चरननि पहुँचावै॥
डरे पाप तें सदा प्रेम तें प्रभु आराधें।
जप, तप, तीरथ, बरत करें यम नियमनि साधें॥
सदा सत्य बोलें बचन, ब्रह्मचर्य तें रहे नित।
जाइँ नहीं ते नरक नर, परतिय पै न चलाइँ चित॥

———

नरकों से कैसे बच सकें ?

[३४९]

अधुनेह महाभाग ! यथैव नरकान्नरः ।
नानोग्रयातनान्नेयात्तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० १ अ० ६ श्लोक)

छप्पय

सुनी नरक की बात कँप्यो हिय दशा भुलानी ।
करैं प्रतिच्छण पाप विवश है प्रभु जिय जानी ॥
ज्ञानी अति ही अल्प अधिक अज्ञानी जग महँ ।
प्रति पल हिंसा होय, उठत बैठत घर मग महँ ॥
होयँ पाप तो का करैं, कैसे पापनि तें बचैं ।
जीव भ्रमै प्रारब्ध वश, करम नचावैं तस नचैं ॥

भविष्य की चिन्ता जो नहीं करता, वह या तो जड़ है या जीवन मुक्त है, नहीं तो सबके चित्त में यह प्रश्न उठता है आगे क्या होगा। साधु महात्मा को, दैवज्ञ ज्योतिषी को देख कर सभी हाथ दिखाने लगते हैं, हमारे भाग्य में क्या है।

---

* नरकों के वर्णन सुनकर महाराज परीक्षित श्रीशुक से कहते हैं—"हे महाभाग नरकों के वर्णन तो मैंने सुने, अब आप वह उपाय मुझे बतावें, जिससे इन नाना प्रकार की उग्र यातनाओं से पूर्ण नरकों में पुरुष को न जाना पड़े।"

प्राणियों में स्वाभाविक प्रवृत्ति है, पुण्य चाहे न करें, किन्तु पुण्य का परिणाम जो सुख है उसे सब प्राप्त करना चाहते हैं। इसी प्रकार पाप तो चाहे करते रहें, किन्तु पाप के परिणाम दुःख को वे भोगना नहीं चाहते। इसीलिये सभी सुख पाने का और दुख से बचने का उपाय करते रहते हैं। जो लोग पर-लोक को नहीं मानते, वे इस लोक में दुःखों की सम्भावना होने पर उनसे बचने के लिये सब कुछ करते हैं। किसी प्रति-ष्ठित पुरुष से कोई प्रामाणिक व्यक्ति कह दे, कि पुलिस आप पर अमुक संदेह पर एक अभियोग चलाना चाहती है, तो धन देकर अनुनय विनय से तथा अन्य सभी उपायों को काम में लाकर वह ऐसा प्रयत्न करता है कि अभियोग चलने ही न पावे, यदि चल ही जाय, तो उसमें हमें कोई दण्ड न हो, हम उससे बच जायँ। इस लोक में तो आप चाहे अपराध करके बच भी जायँ, किन्तु आप परलोक को मानें या न मानें, उस लोक में कोई भी अपराध करके बिना उसका प्रायश्चित्त किये दंड से बच नहीं सकता। 'हम परलोक को नहीं मानते।' ऐसा कहने से ही तो काम न चलेगा। क्योंकि हमें आकाश दिखाई नहीं देता इसलिये हम आकाश को नहीं मानते। इतने से ही आकाश का अस्तित्व तो विलीन नहीं हो जायगा। आप मानें न मानें आकाश को छोड़कर कहीं जा नहीं सकते। रहेंगे आकाश की ही छत्रछाया में। आप मुख से परलोक को न मानिये अपने को भुलावा भले ही दे लें, किन्तु यमराज तो तुम्हारी भूल-भुलैयाओं में आने वाले नहीं वे तो पापों का फल अवश्य देंगे, चूतड़ों पर डंडे पड़ेंगे। अवश्य पड़ेंगे बिना संदेह पड़ेंगे। यमराज तुम्हारी एक भी न सुनेंगे, कि हम परलोक को नहीं मानते थे, अतः हम पापों के फलों से मुक्त कर दिये जायँ। कंटकाकीर्ण पृथ्वी है। तुम आँख मींच लो, उन काँटों को मत

देखो। वहाँ से नंगे पैरों निकलोगे तो पैर में काँटे अवश्य छिदेंगे। इसी लिये पाप करके जो उसका प्रायश्चित नहीं करता, उसे पापों का फल अवश्य भोगना पड़ेगा।

पापों का वृत्त सुनकर राजा परीक्षित का हृदय धक् धक् करने लगा। वे बड़े घबड़ा गये, नरकों की यातनायें सुनकर उनके सम्पूर्ण शरीर में रोमाञ्च हो गये। अत्यन्त उदास होकर वे भगवान् शुक से कहने लगे—"प्रभो! अब तक तो आपने बड़ी सुन्दर-सुन्दर कथायें सुनाई थीं। पहिले आपने निवृत्ति प्रवृत्ति मार्ग का बड़ा ही अनूठा भावपूर्ण वर्णन किया था। निवृत्ति मार्ग में कैसे सद्यः मुक्ति हो जाती है, कैसे क्रम मुक्ति के द्वारा ब्रह्मलोक पहुँचने पर वहाँ भगवान् ब्रह्मा के साथ साधक को मोक्ष की प्राप्ति होती है, इन दोनों का आपने बड़ी विद्वता से वर्णन किया। इसी प्रकार प्रकृति सम्बन्ध में बँधे हुए पुरुषों को यज्ञ यागादिक सकाम कर्म करने से किस प्रकार गुणमय स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति होती है, फिर पुण्य के क्षीण होने पर किस प्रकार संसार में पुनः-पुनः आना पड़ता है और मरकर फिर जन्म लेना पड़ता है—चौरासी के चक्र में घूमना पड़ता है—ऐसे प्रवृति मार्ग का भी आपने वर्णन किया। महाराज स्वायम्भुव मनु के वंश का भी बड़ी विद्वता के साथ विशद वर्णन किया, बड़ी-बड़ी रसीली रँगीली, रस भरी, शिक्षा-प्रद; सदाचारपूर्ण उन्नति की ओर लेजाने वाली, भगवद् भक्ति से संपुटित बहुत-सी कहानियाँ सुनाईं, सुन्दर-सुन्दर उपाख्यान राजर्षियों के चरित्र सुनाये। द्वीप, वर्ष, ग्रह, नक्षत्र, ऊपर नीचे के लोक सभी का संक्षेप से आपने वर्णन किया। ये सब कथायें तो मुझे बड़ी अच्छी लगीं। किन्तु भगवन्! नरकों का वर्णन करके तो आपने सब गुड़ गोबर एक कर दिया। बड़ा गड़बड़ घोटाला हो गया। मेरा चित्त तो बड़ा

व्याकुल हो गया। संसार में रहकर कौन सर्वदा पापों से बच सकता है। पानी में डुब्बी मारने पर किसका अङ्ग बिना भीगे रहेगा। काजर की कोठरी में कैसा भी चतुर पुरुष जाय,कैसे वह कालिख लगने से बच सकता है? सो हे प्रभो! पाप हमसे प्रतिक्षण होते ही रहते हैं। ज्ञानियों और भगवत् भक्तों को छोड़ कर मुझे किसी एक को तो दिखाइये, जो पापों से बच सका हो। यदि कोई नहीं बच सका, तो क्या सभी को नरक जाना ही पढ़ेगा। नारकीय यातनाओं से बचने का कोई उपाय नहीं है क्या? यदि हो तो कृपा करके पहिले उसे ही मुझे बताइये, तब आगे की कथा कहिये। इन नरकों की बातें सुनकर तो मेरा चित्त बड़ा क्षुब्ध हो रहा है।

यह सुनकर अत्यन्त ही गम्भीरता के साथ श्रीशुक बोले—राजन्! किया हुआ कर्म तो कभी निष्फल होता ही नहीं। केवल भगवान् के निमित्त किया हुआ कर्म भगवद्भक्ति को ही उत्पन्न करता है, प्रभु पादपद्मों में प्रीति की ही वृद्धि करता है और संसार के निमित्त किया हुआ संसार का सृजन करता है, जगत् के बन्धन को और कसकर बाँधता है। आवागमन के चक्कर को दृढ़ करता है। पाप करके जो इसी जन्म में उनका प्रायश्चित नहीं कर लेता, उसे मरकर नरक की यातनायें अवश्य भोगनी पड़ती हैं। अतः जैसा छोटा बड़ा, जान में, अनजान में पाप बन गया हो। उसका उसी के अनुरूप शास्त्रीय विधि से, प्रायश्चित अवश्य कर लेना चाहिये। प्रायश्चित्त कर लेने से पाप उसी प्रकार कट जाते हैं जैसे कुल्हाड़ी से बड़े-बड़े पेड़ कट कर गिर पड़ते हैं।

इसलिये मन से, बचन से, कर्म से जैसा भी पाप बन गया हो उसके अनुरूप वैसा ही प्रायश्चित्त मनुष्य को अवश्य करना चाहिये। प्रायश्चित्त करने से फिर उसका भोग करने नरक नहीं जाना पड़ता। जैसे किसी ने किसी से एक सहस्र रुपये ऋण

लिये व्याज आदि से बहुत बढ़ गये। यदि वह नहीं देता तो महाजन राजद्वार में जाकर उस पर अभियोग चलाता है। वहाँ उस पर दण्ड होता है, घर का सामान बेच दिया जाता है, नाना क्लेश उठाने पड़ते हैं। यदि अभियोग आरम्भ के पूर्व १० भले आदमियों की सम्मति से महाराज की अनुनय विनय करके कुछ कम देकर भी तै कर लेता है, तो दौड़ धूप, चिन्ता आदि से भी बच जाता है, दण्ड आदि भी नहीं होता। इसी प्रकार जो यहीं जैसे-तैसे प्रायश्चित्त करके विवाद को शान्त कर देता है, उसे यम के दरबार में अभियुक्त बनकर नहीं जाना पड़ता।"

राजा ने पूछा—"महाराज, यह कैसे पता चले, यह बड़ा पाप है, यह छोटा पाप है। इसका बड़ा प्रायश्चित्त करना चाहिये, इसका छोटा। क्योंकि करने वाला तो सभी पापों को छोटा ही समझता है।"

श्रीशुक बोले—"करने वाले की समझ से महाराज, काम थोड़े ही चलेगा। हमारे शरीर में रोग हो जाय, और हम उपेक्षा के साथ कह दें—"अजी कुछ नहीं है तनिक-सी सरदी है श्लेष्म बढ़ गया है।" ऐसा कहने से रोग कम तो हो न जायगा। वह तो बढ़ते-बढ़ते राजयक्ष्मा तक पहुँचेगा। इसलिये रोग होते ही वैद्य को दिखाना चाहिये। वह उसकी गुरुता लघुता की परीक्षा करके औषधि का निर्णय करेगा कि इसके लिये काढ़ा ठीक होगा या कोई अवलेह, भस्म या रसायन, वटिका या चूर्ण। वह जो बतावे उस औषधि का श्रद्धा सहित पथ्यपूर्वक सेवन करने से रोग जायगा। इसी प्रकार पाप हो जाने पर स्मृति शास्त्र के ज्ञाता पंडितों के पास जाय। बिना छिपाये अपने पाप को स्पष्ट बता दे। उसमें छल कपट न करे। पाप को सुनकर राजा भी दण्ड देगा। वह भी प्रायश्चित्त ही है और शास्त्रों में जो व्रत उपवासादि के विधान बताये हैं, उन प्रायश्चित्तों द्वारा भी पापों से

छुटकारा हो जाता है। जब तक हाथ में पाश और डण्डा लिये यमराज का परवाना लेकर उनके दूत न आ जायँ, उसके पूर्व ही पाप का प्रायश्चित्त कर ले। यदि वे आकर पकड़ ले गये, तव तो फिर नियमानुसार अभियोग ही चलेगा। सुलह आदि की फिर आशा न रहेगी। यमराज ने कोई तिथि निश्चित नहीं कर दी है, न जाने कब उनके दूत पकड़ने आ धमकें। वे दुष्ट ऐसे निर्दयी होते हैं कि तनिक भी शील संकोच नहीं करते। अनुनय विनय, रोने चिल्लाने, हाथ जोड़ने, पैर पड़ने, गिड़गिड़ाने का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अतः राजन्! पाप हो जाय, तो उसका तुरन्त ही प्रायश्चित्त कर ले।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मेरे गुरुदेव के मुख से पापों के प्रायश्चित्त की बातें सुनकर महाराज परीक्षित् कुछ सोचने लगे। प्रतीत होता है, वे कुछ पाप और उनके मूल कारणों पर प्रश्न करने को गम्भीरता से विचार कर रहे हैं।"

छप्पय

जैसे सज्जी आदि वस्त्र के मलकूँ धोवें।
तैसे प्रायश्चित्त सबिधिकृत पापनि खोवें॥
स्वच्छ वस्त्र फटि जाय तऊ चित मोद बढ़ावै।
मलिन बसन ह्वै जीर्ण मलिनता सँग लै जावै॥
प्रायश्चित्त किये बिना, यमपुर जे नर जायँगे।
ते निश्चय ई नरक परि, बिबिध भाँति दुख पायँगे॥

—o—

पापों का प्रायश्चित्त क्या ?

[३५०]

कर्मणा कर्मनिर्हारो न ह्यात्यन्तिक इष्यते ।
अविद्वदधिकारित्वात् प्रायश्चित्तं विमर्शनम् ।।*

(श्रीभा० ६ स्क० १ अ० ११ श्लोक)

छप्पय

तनतें मनतें करे पाप जितने बचननितें ।
करिकें प्रायश्चित पृथक् होवें नर तिनतें ।।
श्रद्धा संयम युक्त करें तप, ब्रह्मचर्य शम ।
सत्य, दान, तप, शौच, योगयुत करें नियम यम ।।
ते निश्चय ही पाप तैं, छिन महँ नर तरि जात हैं ।
ज्यों दावानल के लगत, वेणु गुल्म जरि जात हैं ।।

पाप के शोधन का नाम प्रायश्चित है । जैसे वस्त्र है, यदि वह निर्धूलि स्थान में रखा रहे तो मलिन न होगा, किन्तु धूलि का संसर्ग होते ही शनैः-शनैः मलिन हो जायगा । किन्तु कीच में डुबो दें तो तत्क्षण महान् मलिन हो जायगा । इसी प्रकार

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! कर्मों के द्वारा कर्मों का आत्यंतिक नाश नहीं हो सकता । क्योंकि करने वाला अधिकारी अज्ञानी ही है । इसलिये यथार्थ प्रायश्चित तो विचार—भगवत् स्वरूप का ज्ञान—ही है ।"

चित्त को सांसारिक वासनाओं से दूर रखें तो यह विशुद्ध बना रहेगा। किन्तु ऐसा न करें और संसार के व्यवहार में लगाये रखें और श्रुति स्मृति विहित सन्ध्या तर्पण, अग्निहोत्र, उपवास जप, पंच महायज्ञ आदि न करें तो कुछ काल में तम के ढक जाने से प्रकाशहीन मलिन हो जायगा। यदि इनको करते हुए भी ब्रह्महत्या, सुरापान, परस्त्री गमन आदि महापातक कर डालें तो मन तत्त्क्षण मलिन होगा। ऐसे महापापों के स्मृतियों में अनेकों प्रायश्चित्त बताये हैं। कुछ पापों का तो शरीर का अन्त कर देना ही प्रायश्चित्त कहा गया है।

श्री शुकदेवजी के वचन सुनकर राजा परीक्षित् ने पूछा—"प्रभो ! आप प्रायश्चित्त पर अधिक बल दे रहे हैं, अतः मैं सुनना चाहता हूँ, किन पापों का कौन-सा प्रायश्चित्त करना चाहिये।"

यह सुनकर श्रीशुकदेवजी बोले—"राजन् ! १०–२० पाप हों, तो मैं उनका प्रायश्चित्त भी बताऊँ, पाप तो असंख्यों हैं, असंख्यों ही उनके प्रायश्चित्त हैं। मैं पहिले ही बता चुका हूँ, धर्मशास्त्रों में स्मृतिकारों ने बहुत से पापों के प्रायश्चित्त बताये हैं। जैसे बहुत से छोटे मोटे पाप पंचगव्य (गौ का गोबर, गोमूत्र, गोघृत, गोदुग्ध और गोदधि कुशा से मिलाकर) पीने से ही दूर हो जाते हैं। बहुत से एक रात्रि, दो रात्रि, ३–५–७ रात्रि के उपवास से दूर हो जाते हैं। भोजन कर रहे हैं, अपवित्र हो गये, तो तुरन्त उस ग्रास को पृथिवी पर रखकर स्नान कर लो शुद्ध हो गये। यदि अशुचि अवस्था में उसे खा लिया तो एक दिन उपवास से शुद्धि होती है। खाते-खाते वमन हो जाय तो गायत्री जप से शुद्धि होती है। जो अज्ञान से अभक्ष्य खाये कृच्छ्रव्रत से शुद्ध होता है। ज्ञान से यह सब करें तो दो चान्द्रायण व्रत करने से शुद्धि होती है।

जिससे किसी प्रकार भी मातृगमन, गुरुपत्नीगमन, भगिनी-गमन, दुहितागमन अथवा पुत्रवधूगमन हो जाय, उसके लिये अग्निप्रवेश के अतिरिक्त शास्त्रकारों ने और कोई प्रायश्चित्त नहीं बताया है। इसी प्रकार अनेक पापों के प्रायश्चित्तों का कथन किया गया है। पापी पुरुष पापों के बताये हुए उन-उन प्रायश्चित्तों के बिना पापी ही बने रहते हैं, उन्हें मरने पर यमराज अपने दूतों से नाना नरकों में दण्ड दिलाते हैं। अतः जिन्हें नरकों से बचने की इच्छा हो वे शास्त्रों में बताये हुए पापों के प्रायश्चित्तों को अवश्य करें।"

इस पर राजा ने पूछा—"भगवन् ! प्रायश्चित्त करने से पापों का नाश कैसे होता है ?"

इस पर श्रीशुक बोले—"अरे, राजन् ! यह तो मोटी-सी बात है। खेती में बहुत से व्यर्थ के तृण कँटोले पौधे उग जाते हैं खुरपी से काट देने पर जैसे वे नहीं रहते, वैसे ही प्रायश्चित्त करने पर पाप नष्ट हो जाते हैं। जैसे कुल्हाड़ी से पेड़ कट जाता है, वैसे प्रायश्चित्त से पाप रूपी वृक्ष कट जाता है।"

इस पर राजा ने पूछा—"भगवन् ! यह तो मैं समझ गया। मेरा अभिप्राय पूछने का यह है कि मनुष्य पाप कैसे करता है। वासनाओं के वशीभूत होकर। नहीं तो सब जानते हैं कि पाप प्रकट हो गया, राजा को मालूम हो गया तो दण्ड देगा, परलोक पर आस्था रखने वाले यह भी जानते हैं नरक में भी इसका फल भोगना पड़ेगा। यह सब जानते हुए भी पापों में प्रवृत्त होते हैं। जैसे किसी ने वासना के वशीभूत होकर परस्त्रीगमन किया, ब्रह्महत्या की, या धन रत्न की चोरी की। यदि प्रायश्चित्त करने से उसकी वह वासना मिट जाय, तब तो प्रायश्चित्त उचित है, यदि वासना न मिटी, आज प्रायश्चित्त कर लिया, कल फिर उसी पाप में प्रवृत्त हुए, तो यह तो गज-स्नान के समान

हुआ। अभी हाथी को मल-मलकर नदी में न्हिलाया धुलाया। नदी से निकलते ही सूँड़ से उठाकर बहुत-सी धूलि अपने अङ्गों पर भी डाल ली, तो उससे क्या लाभ ? प्रायश्चित्त रूपी कुल्हाड़ी ने पाप रूप वृक्ष को तो काट दिया, किन्तु वासना रूप जड़ तो ज्यों की त्यों बनी ही रही। जड़ रहेगी तो वृक्ष फिर हो जायगा तो कृपा करके मुझे यह बतलाये कि प्रायश्चित्त से मूल वासना का भी नाश हो जाता है या तत्क्षण किये हुए उसी एक पाप का नाश होता है ?"

यह सुनकर हँसते हुए महामुनि शुक बोले—"राजन् ! तुम बुद्धिमान् हो, बात की सतह तक पहुँच जाते हो। महाराज ! कृच्छ्र चान्द्रायणादि प्रायश्चितों से पाप कर्मों का आत्यन्तिक नाश नहीं होता। आप यों समझिये किसी के शरीर में श्लेष्मा (कफ) की वृद्धि हो गई है, इससे कभी उसकी नाक बन्द हो जाती है, कभी काक बढ़ जाता है, कभी गले में दर्द होता है, कभी दाँतों में दर्द होता है, कभी मन्दाग्नि हो जाती है, कभी ज्वर आता है। रोगी को जिस उपद्रव से कष्ट होता है, वैद्य उसी की क्षणिक चिकित्सा करता है, काक बढ़ गया, उसे काट देता है। कफ की गाँठें पड़ गईं तो उन्हें काट देता है। अग्नि मन्द हो गई तो पाचक उद्दीपक औषधि दे देता है। ज्वर आ गया तो उसी को रोकने की दवा दे देता है। इन उपायों से उपद्रव शान्त हो जाते हैं। कुछ काल के लिये शान्ति भी हो जाती है, किन्तु उपद्रवों की जड़ तो गई नहीं। जब तक श्लेष्मा की शान्ति के उपाय न किये जायँगे। लगकर मल दोष को न मिटाया जायगा, तब तक उपद्रव होते ही रहेंगे। इसी प्रकार राजन् ! प्रायश्चित्त यथार्थ रोगों की दवा नहीं, वह तो रोगी के उपद्रवों की तात्कालिक औषधि है। जैसे किसी ने काम वश परस्त्री गमन का पाप किया। उसके प्रायश्चित्त रूप में उसने चान्द्रायण व्रत

किया। इससे वह जो एक बार परदाराभिगमन का पाप था, वह छूट गया। इस पाप के लिये उसे यमराज के यहाँ नरक में दण्ड न भोगना पड़ेगा। किन्तु उस प्रायश्चित्त से उसकी काम-वासना का समूल नाश नहीं हो सकता। फिर कामाभितप्त होकर वह पाप कर सकता है, कर सकता क्या है, करता ही है। क्योंकि भूमि में जड़ बनी रहेगी तो पानी पाते ही उसमें से अंकुर अवश्य उत्पन्न होगा ही।"

यह सुनकर परीक्षित् जी ने कहा—"महाराज! तब तो यह कुछ नहीं हुआ। कोई ऐसा उपाय बताइये कि पापों में प्रवृत्ति ही न हो। वासना की जड़ ही कट जाय।"

इस पर हँसते हुए श्रीशुक बोले—"राजन्! यही तो मैं कहने जा रहा था। इसके पूर्व ही आपने यह प्रश्न कर दिया। देखिये महाराज! रोग होने पर उसकी चिकित्सा करना और रोग होने के पूर्व असावधान बने रहना यह उत्तम पक्ष नहीं है उत्तम पक्ष तो यह है कि सदा ऐसा प्रयत्न करे, इतने संयम नियम से रहे कि रोग होने ही न पावे। यदि कदाचित् हो ही जाय, तो इतनी लगन के साथ पथ्यपूर्वक चिकित्सा करे कि रोग जड़ मूल से चला जाय। यदि तनिक भी रोग का अंश शेष रह गया तो वह फिर महा रोगों को उत्पन्न कर सकता है, इसी प्रकार महाराज! पाप होय ही नहीं, यह सर्वश्रेष्ठ मार्ग है। हो जाँय तो उस पाप का तत्क्षण प्रायश्चित्त करे और आगे के लिये सचेष्ट रहे।"

अच्छा, आप सोचें—"पाप होता कैसे है? अज्ञान से अनित्य में नित्य बुद्धि करने से, अप्रिय में प्रिय भावना करने से, अशुचि में शुचि की कल्पना करने से। स्त्री पुरुष के और पुरुष स्त्री के रूप में आसक्त होकर जो पाप कर्म कर डालते हैं, उसका एकमात्र कारण अज्ञान है। वे अज्ञानी आज पाप का प्रायश्चित्त

करेंगे, कल फिर उसी पाप को करेंगे, क्योंकि उनका मन तो विषय में फँसा है। इसलिये महाराज ! सबसे प्रायश्चित्त तो ज्ञान है। मन इन विषयों से हटकर मनमोहन की माधुरी में मस्त हो जाय। चित्त इन अज्ञानकृत शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्शजन्य सुखों में फँसा है, इनसे हटकर जब ज्ञानरूप भगवत् स्वरूप में तल्लीन हो जाय, तो फिर इससे कभी पाप बन ही नहीं सकते। जैसे सदा सर्वदा पथ्य से रहने वाले पुरुष पर प्रायः रोगों का आक्रमण नहीं होता उसी प्रकार नियमानुसार आचरण करने वाला पुरुष भगवद् तत्व को प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है। अतः भगवद् स्वरूप का ज्ञान भगवान् की अहैतुकी भक्ति, उनके नाम, रूप, लीला, धाम इन सबमें अथवा इनमें से किसी एक में रति होना यही सबसे श्रेष्ठ यथार्थ प्रायश्चित्त है।"

छप्पय

निज आहार बिहार रखें शुचि संयम धारें।
सदा पथ्य तें रहें, बढ़े दोषनि कूँ जारे॥
होन न देवें रोग होहिं तो औषधि खावें।
तिनि पुरुषनि ढिंग रोग भूल कबहूँ नहिँ आवें॥
प्रायश्चित यथार्थ जिह, सद्गुरु के ढिंग जाय कें।
करे नाश अज्ञान कूँ, नारायण गुन गाइकें॥

प्रभु प्रेम ही सब पापों को नाश करने में समर्थ हैं

[३५१]

प्रायश्चित्तानि चीर्णानि नारायणपराङ्मुखम् ।
न निष्पुनन्ति राजेन्द्र सुराकुम्भमिवापगाः ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० १ अ० १८ श्लो०)

छप्पय

पथ परमार्थ महान् मार्ग बहुतेरे जावें ।
भक्ति मार्ग कूँ श्रेष्ठ किन्तु सब सन्त बतावें ॥
उभय भक्त जब मिलें मधुर हरि नाम उचारें ।
नवें परस्पर विनय सहित पदरज सिर धारें ॥
ऐसे शील स्वभाव युत, संत गहैं जा गैल कूँ ।
क्यों न फेरि चलि पथिक सब, धोवें मनके मैल कूँ ॥

सार परमार्थ तत्त्व एक ही है । उसे पाने के मार्ग अनेक हैं । गन्तव्य स्थान एक ही है, चाहे पूर्व से जाओ, पश्चिम से जाओ, सवारी से जाओ, पैदल जाओ, देर सवेर पहुँचोगे वहीं । किन्तु बुद्धिमानी इसी में है, कि ककरीले पथरीले कंटकाकीर्ण निरुदक

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं —"हे राजेन्द्र ! जो नरनारायणपराङ्मुख है भगवत् भक्ति से रहित है, उसके किये हुए प्रायश्चित्त उसे उसी प्रकार शुद्ध नहीं कर सकते जिस प्रकार मद्य के घड़े को सरितायें शुद्ध नहीं कर सकतीं ।"

मार्ग को छोड़कर सरल सुगम राजपथ से गन्तव्य स्थान को जाया जाय। अपने बड़े लोग महाजन लोग जिस मार्ग से गये हैं और उन्होंने जिस मार्ग की प्रशंसा की है, वही सर्वश्रेष्ठ सर्वोपरि मार्ग है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! कुछ पाप मन से होते हैं, कुछ मन वचन से और कुछ मन वचन और कर्म तीनों से होते हैं। मानसिक पापों का सबसे बड़ा प्रायश्चित है पश्चात्ताप। मन में कोई पाप उठा और क्षणभर में ही सम्हल कर सोचने लगे—"अरे, यह पाप मेरे मन में कैसे आ गया। राम-राम, अब ऐसा कभी न करूँगा।" इस प्रकार अनेक युक्तियों से मन को धिक्कार देना पाप करने के पश्चात् जो ताप होता है पश्चात्ताप में यह भावना दृढ़ रहती है, कि ऐसा पाप मैं कभी न करूँगा। जो मन के सहित वाणी द्वारा भी पाप हो जाता है, उसके लिये पश्चात्ताप के सहित जप भी करे। वाचिक पापों के लिये मौन धारण करना वैदिक तांत्रिक तथा नाम मन्त्रों का जप करना, यह सबसे बड़ा प्रायश्चित्त है। जो पाप मनसा वाचा कर्मणा तीनों प्रकार से हो गया है, उसके लिये मन से पश्चात्ताप करे, वाणी से भगवन्नाम कीर्तन करे और देह से भगवत् सेवा करे, नियम व्रत से रहे। इस प्रकार भगवान् का आश्रय ग्रहण करने से, भगवद्भक्ति करने से मनुष्य सब पापों से छूट जाता है। जो मनुष्य नियम से संयमपूर्वक नहीं रहता, उसके सब साधन व्यर्थ हैं।"

इस पर राजा परीक्षित् ने पूछा—"नियमपूर्वक कैसे रहे? मुख्य-मुख्य नियम संयम मुझे बताइये।',

यह सुनकर श्रीशुक बोले—"राजन्! नियम तो अनेक हैं, किन्तु फिर भी प्रधान ये नियम बताये गये हैं। इन नियमों का पालन करने से चित्त शनैः-शनैः संसार की ओर से हटकर भगवान् के पादपद्मों में लग जाता है।"

राजा परीक्षित् ने पूछा—"भगवन् ! वे नियम कौन से हैं।"

श्रीशुक बोले—"राजन् ! वे नियम ये हैं—तप, ब्रह्मचर्य, सम, दम, दान, सत्य, शौच और यम नियम। अब अत्यन्त ही संक्षेप में इनकी व्याख्या सुनिये।"

"महाराज ! तप कहते हैं शरीर तपाने क्लेश देने को। यह शरीर स्वभाव से सुख चाहता है। सुन्दर विषय वासना युक्त कामोद्दीपक संगीत सुनने से, अपनी स्तुति प्रशंसा सुनने से, मनोहर चित्ताकर्षक, रमणीय रूप देखने से, स्वादिष्ट हृद्य मधुर कुटकुरे, भुरभुरे, लुचलुचे, रसीले मृदुल सुस्वादु पदार्थों का रसना से स्वाद लेने से, अच्छी सुगन्धित वस्तुओं के सूँघने से, मुलायम सुन्दर, सुखद, कोमल सुकुमार शरीरों तथा गद्दा तकिया के स्पर्श तथा सेवनादि से चित्त स्वतः प्रसन्न होता है। इनका त्याग कर देना शरीर निर्वाह के ही निमित्त ही वस्तुओं का सेवन करना यही तप कहलाता है। कृच्छ चान्द्रायणादि व्रत भी तप के अन्तर्गत हैं। यथार्थ परम तप तो काम-वासनाओं का, भोगों का मन से त्याग देना ही है।

ब्रह्मचर्य उसे कहते हैं—"मन से, वचन से तथा कर्म से सर्वदा वीर्य की रक्षा करते रहना। अष्ट प्रकार के मैथुनों से सदा सर्वदा बचे रहना। गृहस्थी केवल सन्तानोत्पत्ति के लिये स्वदारा में ऋतुकाल में अभिगमन करता हुआ भी ब्रह्मचारी ही कहलाता है।

मन को शमन करना, उसे विषयों की ओर न भटकने देना, अन्तःकरण को भगवान् में ही लगाये रहना यह शम कहाता है और इन्द्रियों के दमन को दम कहा गया है। जो इन्द्रिय जिस विषय को ओर दौड़े उसे बलात् उनकी ओर से हटाये रहना जिससे उनमें आसक्ति न बढ़ने पावे।

दान कहते हैं किसी अपनी वस्तु को योग्य पात्र को सविधि

समर्पित करके उसमें से अपनापन हटाना। अन्नदान, गौदान, जलदान, फलदान, द्रव्यदान, पृथ्वीदान, कन्यादान, आदि-आदि अनेकों प्रकार के दान हैं। किन्तु इन दानों को निर्मत्सर होकर देने वाला ही परम पुण्य का अधिकारी बन सकता है। जो भूतों से तो द्रोह करता है और ऊपर से दान करता है तो उसका सभी दान व्यर्थ है। इसलिये भूतद्रोह का त्याग करना यह परम दान कहा गया है।

सत्य कहते हैं यथार्थ कथन को। जो वृत्त जैसा हुआ है, अतःकरण से हमने जैसा देखा सुना या अनुभव किया है, उसे बिना लगाव लपेट के निष्पक्ष होकर व्यक्त कर देना, यही सत्य है। जिसके मन में भेदभाव है, एक को अपना समझता है दूसरे को पराया समझता है, वह कभी भी सत्य का आचरण नहीं कर सकता। अतः प्राणीमात्र में समभाव रखना यह यथार्थ सत्य है।

शौच कहते हैं भीतर बाहर की शुद्धि को। बहुत से लोग बाहर से तो बड़ी शुद्धता रखते हैं और भीतर भँगार भर रही है, वह यथार्थ शौच नहीं। यह तो वैसे ही हुआ जैसे सुरा से भरे घड़े को ऊपर से गंगाजल से धो देना। जिस पुरुष का मन बुरे कर्मों में फँसा है वह भीतरी शौच को कैसे रख सकता है, अतः शौच का यथार्थ स्वरूप है कर्मों में आसक्ति न रखना। जो अनासक्त है वही पवित्र है, जो कर्मों में फँसा है वह मलिन है अशुचि है। इस प्रकार राजन्! बहुत से यम हैं बहुत से नियम हैं। उन सबका कहाँ तक मैं आप से वर्णन करूँ?"

राजा ने पूछा—"भगवन्! यम कै प्रकार के हैं और नियम कै प्रकार के हैं?"

यह सुनकर श्रीशुक कहने लगे—"महाराज! योग-शास्त्र में तो अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच यम तथा शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान ये पाँच

नियम बताये हैं। ये तो हैं ही, किन्तु भक्तिशास्त्र में इनसे भी कुछ अधिक कहा गया है। वहाँ यम नियमों को बारह-बारह बताया है। जैसे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, (चोरी न कराना), असंगता, ह्रय (लज्जा), असञ्चय (शरीर निर्वाह की आवश्यकता से अधिक संग्रह न करना), आस्तिकता (ईश्वर, गुरु और वेद-वाक्यों पर श्रद्धा रखना) ब्रह्मचर्य, मौन (वाणी का संयम रखना भगवन्नाम भगवद्गुण कीर्तन को छोड़कर व्यावहारिक बातें न करना), स्थिरता (चंचलता का परित्याग), क्षमा (अपने अपकारी के प्रति भी क्रोध न करना) तथा अभय (किसी से अन्याय-पूर्वक न डरना) ये बारह तो यम बताये हैं। इसी प्रकार बारह नियम भी हैं।"

महाराज परीक्षित् ने कहा—"भगवन् ! उन बारह नियमों को, विस्तार व्याख्या सहित और बतावें ?"

इस पर श्रीशुक बोले—"राजन् ! इनका विस्तार करने लगूँ तो पूरा समय इन्हीं में लग जायगा, अतः यहाँ तो मैं नाम निर्देशमात्र किये देता हूँ। व्याख्या फिर कभी देखी जायगी। हाँ, तो बारह नियम ये हैं—शौच (भीतर बाहर की पवित्रता) जप (इष्ट मन्त्र का पुनः-पुनः सविधि उच्चारण) तप (शरीर को विषय भोगों से पृथक् रखना) होम (हवनीय द्रव्यों को मन्त्र सहित सविधि अग्नि में हवन करना) श्रद्धा (गुरु वचनों में विश्वास) अतिथि सेवा (कहीं से कोई आश्रय की इच्छा से आ जाय, उसका यथाशक्ति अन्न, जल, निवास-स्थान, मधुर वाणी आदि से सत्कार करना) भगवत् पूजन (वैदिक तान्त्रिक अथवा मिश्रित विधि से षोडशोपचार अथवा यथालब्धो पचारों से भगवत् विग्रहों की पूजा करना)। तीर्थ भ्रमण (पुण्य प्रद तीर्थों की समय-समय पर यात्रा करना) परार्थेहा (सदा परो-पकार के लिये चेष्टा करते रहना, जैसे दुखियों को औषधि की

व्यवस्था करना, भूखों के लिये इधर-उधर से कहकर अन्नक्षेत्र की व्यवस्था करना। निर्धन विद्यार्थियों के लिये विद्या का प्रबन्ध करना। लोगों को कथा कीर्तन शुभ कार्यों के प्रचार या प्रसार के द्वारा भगवान् की ओर लगाना आदि परोपकार के कार्यों को भगवत् सेवा बुद्धि से करते रहना ही परार्थेहा कहलाती है।) सन्तोष (भगवत् इच्छा से जो भी प्रारब्धानुसार प्राप्त हो जाय उसी से सन्तुष्ट रहना, दूसरों की वस्तुओं पर चित्त न चलाना) गुरु सेवा (मन से वचनों से तथा कर्मों से गुरुओं के अनुकूल आचरण करना। उनकी सदा सेवा सुश्रूषा करते रहना। (ये हो बारह नियम हैं। इन यम नियमों का जो सावधानी के साथ अव्यग्र भाव से पालन करते रहेंगे उनसे पाप होने के ही नहीं।

किन्हीं-किन्हीं आचार्यों का मत है, कि तुम इन सबको कहाँ तक याद करते रहोगे। पेड़ में कितने पत्ते हैं किस डाली को कितना पानी चाहिये तुम्हें इन बातों को विचारने की आवश्यकता नहीं। जड़ में पानी देते चलो सभी शाखा प्रशाखायें अपने आप हरी हो जायेंगी। जिसके हृदय में भगवान् वासुदेव की भक्ति है उसके समीप सभी सद्गुण स्वतः ही बिना बुलाये शीघ्रता के साथ अपने आप चले आते हैं। अतः इन यम नियमों की चिन्ता छोड़ो। चित्त को चित्तचोर की रूप माधुरी में लगा दो। जिह्वा को निरन्तर उनके त्रैलोक्य पावन नामों के गान में लगा दो। तुम्हारे जितने पीछे के पाप हैं, सभी जल भुनकर भस्म हो जायँगे और फिर आगे होंगे भी नहीं। इसीलिये महाराज सभी पापों को नाश करने की एकमात्र अचूक औषधि है भगवद्भक्ति। कैसा भी बड़े से बड़ा पापी क्यों न हो यदि वह अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियों को उनके सभी व्यापारों को भगवत् कार्य में लगाकर भगवद्भक्तों का संग करता है, तो उससे

जिस प्रकार उसके पापों की शुद्धि होती है, वैसा व्रत उपवास, तप आदि प्रायश्चित्तों से कभी हो ही नहीं सकता। संसार समुद्र को पार करने के साधनों में से--यह भक्तिमाग सर्वश्रेष्ठ सर्व सुलभ, निर्भय तथा कल्याण प्रद मार्ग है। राजन्! यह ऐसा लम्बा चौड़ा छायादार, जल फल फूलों से युक्त राजपथ है, कि अन्धा भी लाठी टेकते-टेकते दौड़ता हुआ चला जाय तो न वह गिरेगा, न पथ च्युत ही होगा। जिसने भक्तिमार्ग का आश्रय ले लिया है, उसके समीप पाप फटक भी नहीं सकते।

राजा ने कहा—"भगवन्! भक्ति के तो शास्त्रकारों ने बहुत से भेद बताये हैं। इनमें से किस भक्ति का आश्रय ग्रहण करने से पापों के नाशपूर्वक परमपद की प्राप्ति हो सकती है?"

इस पर श्रीशुक बोले—"राजन्! यह सत्य है भक्ति के बहुत भेद हैं, किन्तु मैं एक सबसे सुगम, सबसे सरल, सभी के लिये समान रूप से उपयोगी। एक भक्तिमार्ग को बताता हूँ, जिससे सभी प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं, केवल उसी का श्रद्धापूर्वक सेवन करने से पुरुष परमपद को प्राप्त कर सकता है, वह है भगवन्नाम संकीर्तनमयीभक्ति। भगवान् के नाम संकीर्तन में ऐसी सामर्थ्य है कि कैसा भी पापी क्यों न हो, वह नाम नरेश का आश्रय ग्रहण करता है, तो सभी प्रकार की आधि-व्याधियों से छूटकर प्रभु प्रेम का अधिकारी बन जाता है।"

राजा ने कहा—"भगवन्! इसे मुझे स्पष्ट समझाइये।"

इस पर श्री शुक बोले—"अच्छी बात है, मैं इस विषय को आपके लिये उदाहरण सहित समझाऊँगा। आप ध्यानपूर्वक श्रवण करें।"

छप्पय

भक्ति मार्ग अति सुगम सरल सब के उपयोगी।
विप्र होहि वा शूद्र परम ज्ञानी वा भोगी॥
हैं निष्कंटक मार्ग कष्ट कछु जामें नाहीं।
पग-पग पै फल फूल, मिलें खल नहिं मग माँहीं॥
सबरे साथी सरल सुठि, सरस मिले जा पथ चलत।
प्रेम रुदन कबहूँ करत, हरि गुन सुनि कबहूँ हँसत॥

अजामिल का उपाख्यान

नाम संकीर्तन ही पाप नाश के निमित्त पर्याप्त है

(३५२)

एतावतालमघनिर्हरणाय पुंसाम्
सङ्कीर्तनं भगवतो गुणकर्मनाम्नाम् ।
विक्रुश्य पुत्रमघवान् यदजामिलोऽपि
नारायणेति म्रियमाण इयाय मुक्तिम् ॥*

(श्री भा० ६ स्क० ३ अ० २४ श्लो०)

छप्पय

भक्ति भेद बहु भनै अधम ऊँचे अरु मध्यम ।
सङ्कीर्तन हरिनाम कह्यो सबई तें उत्तम ॥
नाम ग्रहण तें भक्ति मुक्ति निचश्य नर पावें ।
कैसे ऊ हों पाप नाम तें तुरत नसावें ॥
मरन कालमहँ अजामिल, यमदूतनि लखि डरि गयो ।
नारायण सुत हित कह्यो, नाम लेत भव नसि गयो ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"हे राजन् ! मनुष्यों के पापों को जड़ मूल सहित नाश करने के लिये भगवान् के गुण सम्बन्धी (दीनदयाल, पतित पावन) कर्म सम्बन्धी (दामोदर, मुरारी, मधुसूदन) आदि नामों का संकीर्तन ही पर्याप्त है। देखिये ! महापापी अजामिल ने मरते समय पुत्र के लिये "नारायण" ऐसा करुणा के स्वरूप में शब्द उच्चारण किया था इसी से वह मुक्त हो गया।"

पूर्व पुण्य पाप कभी-कभी व्यर्थ नहीं जाते, अतः शास्त्रीय सिद्धान्त है, कि पुण्यकर्म करते हुए भी हमें सुख न मिले तो समझना चाहिये, इसका फल हमें अगले जन्म में मिलेगा, इसके विपरीत पाप कर्म करते हुए वृद्ध-सी दिखाई दे तो समझ ले यह वृद्धि पाप का फल नहीं है, कोई पूर्व पुण्य उदय हुआ है, इन पापों का फल तो हमें अवश्य ही भोगना पड़ेगा। पुण्य पाप प्रायः संग दोष से होते हैं। जैसा संग होगा, वैसे संस्कार बनेंगे जैसे संस्कार जम जायँगे वैसे ही कार्य करने लग जायँगे, अतः सदा सर्वदा साधु पुरुषों का संग करना चहिये। कामिनियों का तथा कामियों का कभी भूलकर भी संग न करना चाहिये।

श्री शुकदेवजी राजा परीक्षित् से कहते हैं—"राजन् ! जो लोग जानकर सावधानता पूर्वक भक्ति से भगवान् का नाम लेते हैं, उनके कल्याण के विषय में तो संदेह करने की कोई बात ही नहीं, जो भूलकर किसी बहाने से मूर्छावस्था में भयभीत होकर भगवान् के नाम को कैसे भी मरते समय ले लेते हैं, उन्हीं की मुक्ति हो जाती है। इस विषय में आपको मैं एक बड़ा ही प्राचीन मनोहर, शिक्षाप्रद इतिहास सुनाता हूँ। उसे आप एकाग्रचित्त होकर श्रवण करें।"

प्राचीन काल में परम पावन कान्यकुब्ज (कन्नौज) देश में एक परम धार्मिक वेदाङ्ग के ज्ञाता कुलीन विद्वान् ब्राह्मण रहते थे। उनकी परम साध्वी पतिपरायणा एक पत्नी थी। कालान्तर में उनके एक अति सुन्दर रूपवान् पुत्र हुआ। वह इतना सुन्दर था, कि जो भी उसे देखता वही मन्त्रमुग्ध की भाँति उसे देखता रहता। शनैः शनैः शुक्लपक्ष के चन्द्रमा के समान वह पुत्र बढ़ने लगा। ज्यों-ज्यों उसके अङ्गों का विकास होता त्यों-ही-त्यों उसके सद्‌गुणों का भी विकास होता जाता था। जब बालक की अवस्था ५-६ वर्ष की हुई, तो पिता ने उसका स्वयं

ही यज्ञोपवीत संस्कार किया, मन्त्रोपदेश दिया और उसे विधि-पूर्वक वेद पढ़ाने लगे। उसके शरीर की कान्ति सुवर्ण के समान थो, जब वह अपनी काली-काली घुँघराली लटों को बिखेरकर वन में कुश समिधा लेने जाता, तो मार्ग में जो भी उसे देखता वही प्रसन्न हो जाता। पिता ने उसका नाम रखा था अजामिल।

कुछ ही काल में वह ब्राह्मण पुत्र वेदों को पढ़कर विद्वान हो गया। वह शास्त्रों में पारङ्गत था। बड़ा सुशील, बड़ा सदाचारी तथा बड़ों का आदर करने वाला था, नित्य नियम से सभी व्रतों का पालन करता था, इन्द्रियों को वश में रखता था, सदा सत्य भाषण करता था, स्वभाव उसका अत्यन्त ही मृदुल था। नित्य ही गुरु, अग्नि अतिथि तथा माता-पिता की सेवा करता। नियम से रहता पवित्र आचरण करता, कभी अपने सद्गुणी जाति, कुल, वय तथा सौन्दर्य पर मिथ्याभिमान नहीं करता, जीवमात्र पर दया के भाव प्रदर्शित करता, सबके पहिले ही हँसकर मीठे बचन बोलता, दूसरों के गुणों में कभी भूलकर भी दोष दृष्टि नहीं करता, अधिक क्या कहें, वह सभी सद्गुणों का आधार था। सभी सद्गुणों ने उसी के देह का आश्रय ले रखा था।

अपने पिता-माता का वह इकलौता ही पुत्र था। इसलिये माता-पिता ने अपना सम्पूर्ण प्रेम उसी पर उड़ेल रखा था। वे उसे प्राणों से भी अधिक प्यार करते, अपने शरीर से भी अधिक उसकी चिन्ता रखते तथा पलक जैसे आँखों के तारों की रक्षा करती हैं, वैसे वे उसकी रक्षा करते। जब वह युवावस्थापन्न हुआ, तो माता-पिता को, उसके विवाह की चिन्ता हुई। पिता बड़े प्रसद्धि थे, उनका कुल अत्यन्त उच्च समझा जाता था, धन की उनके यहाँ कुछ कमी नहीं थी। राज दरबार में भी उनका सम्मान था, अजामिल उनका अकेला ही पुत्र था, इसलिये जैसी

कि सभी माता-पिताओं की इच्छा होती है, मेरे पुत्र को सुन्दर-से-सुन्दर बहू मिले, वैसी ही इच्छा उन ब्राह्मण की थी। इसी लिये उन्होंने बहुत द्रव्य व्यय करके एक सर्वगुण सम्पन्ना सुलक्षण कन्या की खोज कराई। भाग्यवश उन्हें एक कुलीन ब्राह्मण की ऐसी कन्या मिल गई। वह अजामिल से भी अधिक सुन्दरी सुशीला और गुणवती थी। पिता ने बड़ी प्रसन्नता से अपने इकलौते पुत्र का बड़ा धूमधाम के साथ विवाह कर लिया। बहू घर में आ गई। पुत्र और वधू को साथ देखकर माता-पिता की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। अब तो अजामिल अग्निहोत्री हो गया, नित्य निमय से गृहस्थ धर्म के अनुसार, अग्निहोत्र बलि-वैश्वदेव करता और माता-पिता की प्रेमपूर्वक परिचर्या किया करता। अजामिल की धर्मपत्नी भी अपने पति में भगवत् बुद्धि रखकर उसकी सेवा सुश्रुषा करती। इसी प्रकार उस परिवार का समय बड़े आनन्द से व्यतीत हो रहा था।

एक दिन की बात है, कि अजामिल अपने पिता की आज्ञा लेकर नित्य नियमानुसार वन में फल, फूल कुशा तथा समिधा लेने गया। समिधा तोड़ने के लिये वह एक गहन बन के भीतर चला गया। वहाँ एक छोटी-सी नदी कलकल करती हुई बह रही थी। वहाँ के सभी वृक्ष पुष्पित तथा पल्लवित थे। हरी दूब ऐसी प्रतीत होती थी, मानों किसी ने हरा मखमल का गलीचा बिछा दिया हो। प्रकृति स्तब्ध थी वृक्षों पर बैठे विहंग वृन्द कलरव कर रहे थे। पुष्पों से लदी पृथ्वी सजी सजाई नववधू के समान दिखाई देती थी। अजामिल ने बहुत से फल फूल तोड़े। सामने ही उसे एक झुरमुट में से कुछ हँसने खेलने की-सी ध्वनि सुनाई दी। राजन्! यह कर्णेन्द्रिय ऐसी पैनी होती है कि भगवत् चर्चा तो सामने होती रहे, तो भी सुनाई न दे, किन्तु जब कोई हँसी मखौल की, शृङ्गार रस की बातें हों तो फट वहाँ

पहुँच जाती है। अजामिल के मन में भी कुतूहल हुआ कि यहाँ अरण्य में कौन इतने सुख से स्वच्छन्दता पूर्वक हँस खेल रहा है। अपने कुतूहल को मिटाने को ज्यों ही वह आगे बढ़ा त्यों ही उसे एक अत्यन्त ही सुन्दर चन्द्रमुखी, परम रूप लावण्य युक्त एक रमणी दिखायी दी। वह एक नीले रङ्ग की रेशमी साड़ी पहिने हुए थी, लाल कंचुकी के ऊपर सुवर्ण का हार पड़ा था। एक पुरुष के गले में अपनी बाहुओं को डाले वह हँस रही थी। पुरुष देखने से कोई धनी प्रतीत होता था, किन्तु उसकी आकृति से मालूम पड़ता था वह किसी नीच जाति का है। दोनों की चेष्टाओं से प्रतीत होता था, दोनों ही मदिरा के मद में उन्मत्त बने थे। मदिरा पान के कारण दोनों की आँखें चढ़ी हुई थीं। वेश्याओं को एक तो वैसे ही लज्जा कम होती है, तिस पर भी मदिरा के नशे में तो वह और भी अधिक उन्मत्त और निर्लज्ज बन जाती हैं। वे दोनों ही सजे बजे थे, दोनों के बहुमूल्य वस्त्रों में सुगंधित इत्र आदि लगे थे। दोनों की ही भुजाएँ अंगरागों में अनुलिप्त थीं, दोनों ही भुजाओं द्वारा परस्पर में प्रेमालिङ्गन कर रहे थे। उस वेश्या को देखते ही अजामिल का मन उसमें फँस गया। उसके हृदय में उसकी मनमोहिनी मूर्ति समा गई।

उसने अपने को बहुत सम्हाला। वह बार-बार अपने को धिक्कारता। 'अरे, मैं यह क्या कर रहा हूँ, मेरा मन कैसा हो गया है, कहाँ मैं कुलीन वेदपाठी ब्राह्मण, कहाँ यह सर्वभोग्या पण्य स्त्री वेश्या। कहाँ मेरा शील सदाचार, कहाँ इसका व्यभिचारमय जीवन है। मैं यह क्या सोच रहा हूँ।' इस प्रकार वे भाँति-भाँति से मन को समझाकर धैर्य धारण करते। जब तक वे नीचे की ओर देखते, तब तक तो ये विचार उठते, जहाँ उसकी ओर दृष्टि गई कि, सब भूल जाते और यही सोचते, यह मुझे कैसे मिले।

अजामिल ने सोचा मैं यहाँ से हट जाऊँ, किन्तु प्रयत्न करने पर भी उनके पैर वहाँ से उठते नहीं थे। एक सघन कुञ्ज की
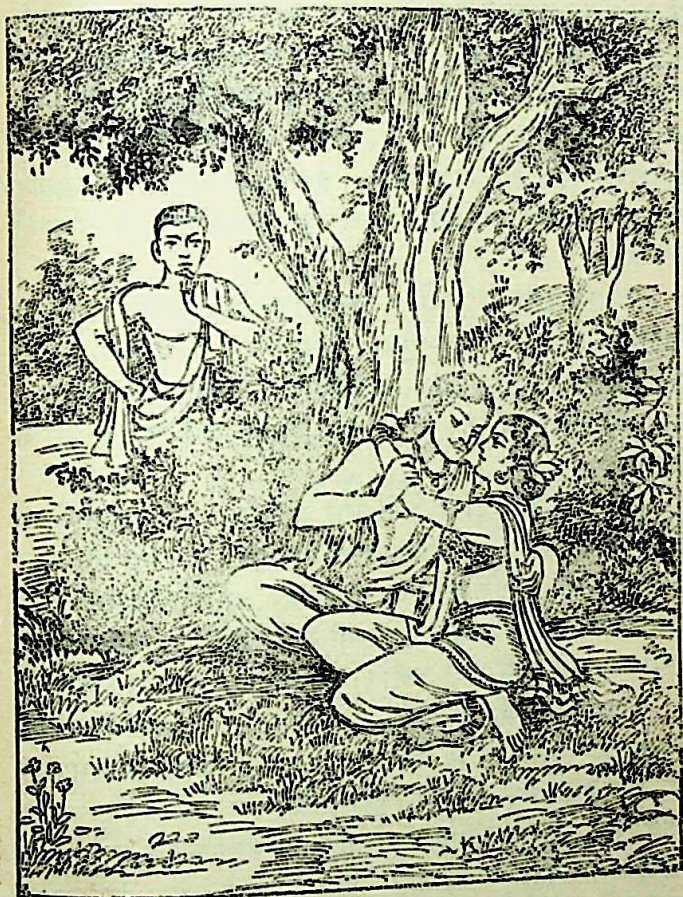
ओट से वे उन दोनों की काम क्रीड़ाओं को देखते रहे। सायंकाल होने को आया। वे दोनों तो मदिरा के नसे में हँस रहे थे, गा रहे थे, काम क्रीड़ा कर रहे थे, किन्तु अजामिल के हृदय में

द्वंद युद्ध हो रहा था। वे अपने सम्पूर्ण धैर्य को बटोर कर इस पाप से निवृत्त होना चाहते थे, किन्तु वे अपने को अवश पाते। अत्यन्त प्रयत्न करते पर भी उन्होंने उस ओर से अपने चित्त को रोकने में असमर्थ पाया। अब तो वे काम रूप ग्रह से ग्रस्त होकर स्मृति शून्य की भाँति बनकर उसी के रूप सौंदर्य के चिंतन में तन्मय हो गये। महाराज! इस दुष्ट मन का पता नहीं कहाँ ले जाकर पटक दे। अजामिल तो गृहस्थ ही था। हमने बड़े-बड़े साधुओं को देखा है, संग दोष से वे बात-की बात में भ्रष्ट हो गये हैं।

राजा ने पूछा—"हाँ तो भगवन्! फिर क्या हुआ?" अत्यन्त विषाद के स्वर में श्रीशुक बोले—"महाराज! होना क्या, था जो होना था वही हुआ। अजामिल अपने धर्म से विमुख हो गया। अब उसने निश्चय कर लिया जैसे हो तैसे इसे अपने वश में करना है।"

सायंकाल होते ही वे दोनों नगर की ओर चले। पता नहीं उन दोनों ने अजामिल को देखा या नहीं। देखा भी होगा तो ध्यान न दिया होगा क्योंकि कामियों का संसार दूसरा ही होता है, वे इन संसारी लोगों को देखते हुए भी नहीं देखते। अजामिल दृष्टि बचाकर उनके पीछे-पीछे चला। जिस घर में वह वेश्या घुसी उसे उसने देख लिया और अपने घर में चला गया। आज उसका चित्त खिन्न था। उसने न माता-पिता को प्रणाम किया, न धर्मपत्नी से मीठी-मीठी बातें ही कीं। किसी से बिना बोले बिना भोजन किये, वह पड़ रहा। माता-पिता ने बहुत कहा अनेक प्रश्न पूछे, किन्तु उसने यही कहकर टाल दिया—"आज मेरा चित्त ठीक नहीं है। मुझसे बोलो मत मुझे चुपचाप सोने दो।" माता-पिता का हृदय कैसे मानता यथाशक्ति उपचार किये, किन्तु उसने सभी को डाट फटकार दिया।

श्रीशुक कहते हैं—"महाराज! जिसके सिर पर काम भूत सवार हो जाता है, उसे सम्पूर्ण संसार सूना-सूना दिखाई देता है, चित्त चंचल हो जाता है जिसके निमित्त यह सब हुआ है, उसी की मूरति नेत्रों में नाचती रहती है, हृदय पटल पर उसी की मूर्ति अंकित हो जाती है। अजामिल के हृदय में भी उस वेश्या की मूर्ति गड़ गई। मन उसे छोड़कर दूसरी चिन्ता ही नहीं करता था। इस प्रकार वह रात्रि भर जागकर करवट बदलता रहा और आहें भरता रहा।"

छप्पय

कान्य कुब्ज शुभ देश अजामिल रहे विप्र इक।
मित भाषी अनसूय तपस्वी परम धारमिक॥
पितु आज्ञा तें गयो, लैन समिधा इक बनमहँ।
तहँ लखि वेश्या सुघर काम सर लाग्यो मनमहँ॥
वा वेश्या को रूप लखि, बिना दाम ई वह बिक्यो।
रोक्यो चंचल चित्त कूँ, राजन्! परि खल नाहँ रुक्यो॥

अजामिल का वेश्या को आत्मसमर्पण

[३५३]

विप्रां स्वभार्यामप्रौढां कुले महति लम्भिताम् ।
विससर्जाचिरात्पापः स्वैरिण्यापाङ्गविद्धधीः ॥
यतस्ततश्चोपनिन्ये न्यायतोऽन्यायतो धनम् ।
बभारास्याः कुटुम्बिन्याः कुटुम्बं मन्दधीरयम् ॥*

(श्री भा० ६ स्क० १ अ० ६५-६६ श्लोक)

छप्पय

पत्नी माता पिता तजे वेश्या अपनाई ।
जाति पाँति निज लाज तजी कुल शील बड़ाई ॥
कैसे हूँ धन मिलै घातमहँ घूमे इत उत ।
अपने घर कूँ छाड़ि रहै वेश्या के घर नित ॥
वेश्या संग व्यभिचार तें, बहु बालक वाके भये ।
हिन्सा चोरी करत ई, बहुत दिवस छण सम गये ॥

साधारण बाण जहाँ लगता है, वहीं घाव करता है, कुछ काल में घाव अच्छा हो जाता है, यदि विष बुझा हुआ बाण

---

* श्रीशुक कहते हैं—"राजन् ! उस वेश्या के कटाक्ष बाणों से विद्ध हो गई है बुद्धि जिसकी ऐसे उस पापी अजामिल ने अपनी सत्कुलोत्पन्ना विवाहिता तरुणी भार्या को कुछ ही काल में त्याग दिया अब तो यह मन्दमति न्याय से अथवा अन्याय से, जहाँ से भी मिले वहीं से द्रव्य एकत्रित करके लाता और बढ़े हुए कुटुम्बवाली वेश्या के कुटुम्ब का पालन करता ।"

हो, तो कुछ काल में शरीर का अन्त कर देता है, किन्तु यह काम वाण तो मनुष्य को 'मर जीवा' बना देता है। यह वाण कान या चक्षु द्वारा हृदय में लगता है, किन्तु व्यथित कर देता है सम्पूर्ण शरीर को, इससे न तो मनुष्य मरता ही है, न जीता ही। अधमरा बना बिलबिलाता रहता है, तड़पता रहता है। कामासक्त पुरुष पात्रापात्र का विचार नहीं करता, काम अन्धा बना देता है, विवेक भ्रष्ट कर देता है, कर्तव्य से च्युत कर देता है। मनुष्य अपने धर्म कर्म शील, संकोच मर्यादा शास्त्रज्ञान सदाचार सभी खो देता है। भगवान् ही जिन पर कृपा करें वही इस माया मोह से बच सकता है, या नहीं तो इस पेटू पापात्मा काम के चक्कर में फँसकर सभी नरकादि यातनाओं को भोगते रहते हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! प्रातःकाल हुआ अजामिल उठा। घर से अपनी स्त्री का एक अमूल्य चन्द्रहार चोरी कर ले गया और उस वेश्या को जाकर दिया। इसी प्रकार ले जाकर उस वेश्या को दे आता। वह वेश्या जिस सुन्दर मनोरम ग्राम्य विषय से प्रसन्न होती, सन्तुष्ट होती अजामिल उसे ही किसी-न-किसी प्रकार से लाकर उसे देता। घर में धन की तो कुछ कमी थी नहीं, माता-पिता का वह इकलौता पुत्र था, कोई हाथ पकड़ने वाला भी नहीं था। इस प्रकार उसने अपने पिता के सम्पूर्ण धन को शनैः-शनैः उस वेश्या के घर पहुँचा दिया।"

अजामिल रूपवान था, कुलीन था, सुशील था, सदाचारी था, कामी नहीं युवा था, रूप लावण्य युक्त था, प्रारब्ध की बात उस वेश्या का भी चित्त उसमें फँस गया। वह जो शूद्र था, जिससे उसका पहिले सम्बन्ध था, वह देखने में भी कुरूप था कंजूस था, कामी था। अपनी काम वासना की तृप्ति के लिये, आज यहाँ कल वहाँ, इस प्रकार द्वार-द्वार भटकता फिरता था,

किन्तु अजामिल को तो प्रारब्ध ने चक्कर में फँसा लिया, वह तो उसके रूप पर आसक्त था, अपने अनुरूप सर्वगुण सम्पन्न
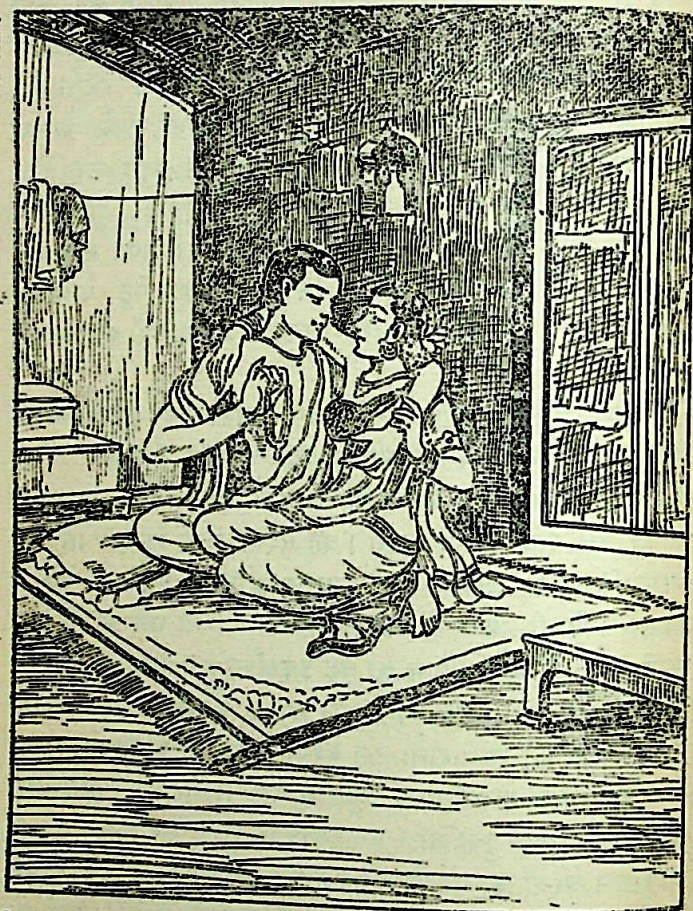
प्रेमी पाकर वेश्या भी प्रसन्न हुई। अब उसने सोचा—"जब तक मेरी युवावस्था है, रूप यौवन है, तब तक तो यह मुझे स्नेह करेगा, संभव है पीछे वृद्धावस्था में यह मुझे छोड़ दे। इसलिये

कोई ऐसी युक्ति करनी चाहिये, कि यह मेरे चक्कर में सदा फँसा रहे। ऐसे प्रेमी को पाकर मैं इस घृणित वेश्या वृत्ति को क्यों करूँ ?" यह सोचकर वह एक दिन अत्यंत ही स्नेह प्रदर्शित करती हुई बोली—"देखो, सुनते हो, तुम मुझे प्यार करते हो, यह मेरा बड़ा सौभाग्य है, किन्तु एक बात मैं आपको स्पष्ट बताये देती हूँ। मैं वेश्या हूँ, कुलीन ब्राह्मण वंश में मेरा जन्म हुआ था, प्रारब्ध वश मेरे माता-पिता मर गये, वेश्या ने मेरा पालन-पोषण किया। जब मैंने युवावस्था में प्रवेश किया, तब पहिले ही पहिल मेरा उस धनी शूद्र से सम्बन्ध हुआ। उसके अनन्तर भगवान ने तुम्हें भेज दिया। दो को छोड़कर मैंने आज तक किसी तीसरे का मुँह भी नहीं देखा। मैं चाहती हूँ, जीवन भर मैं आपकी चिर-संगिनी बनी रहूँ। किन्तु एक म्यान में दो तलवार नहीं रह सकती। एक हृदय दो को समान रूप से प्यार नहीं कर सकता इसलिये या तो आप अपनी पुरानी स्त्री के साथ रहो या मुझे सदा के लिये अपना लो। दुरङ्गी बात ठीक नहीं एक ओर हो जाओ। जैसा आप प्रकट करते हैं यदि यथार्थ में आप मुझसे प्रेम करते हैं तो आप मेरे साथ ही रहें, घर से सम्बन्ध सर्वथा छोड़ दें।

अजामिल तो उस वेश्या के चक्कर में फँस चुका था, उसे उसके बिना चैन ही नहीं पड़ता था। उसे माता-पिता तथा पत्नी का कुछ मोह तो रहा ही नहीं था। घर में वह धन के लिये जाता था। घर का सम्पूर्ण धन प्रायः समाप्त ही हो चुका था, पत्नी के समस्त वस्त्राभूषण चुरा-चुराकर वह उस वेश्या को दे चुका था। माता-पिता भी उसके इस व्यवहार से दुखी रहते। पतिव्रता-पत्नी भी कभी-कभी पैर पकड़कर उसे समझाने की चेष्टा करती किन्तु उसके मन में तो वह मदिरेक्षणा बस गई थी, उसे ये बातें अच्छी नहीं लगती। अतः उसने माता-पिता को, युवावस्थापन्न तरुणी

सत्कुलोत्पन्ना सुशीला, सुन्दरी, सर्वलक्षणा, सर्वगुण सम्पन्ना, सती साध्वी, विवाहिता धर्मपत्नी को छोड़ दिया और अब वह सदा उस वेश्या के साथ ही रहने लगा। वेश्या भी इसे हृदय से प्यार करने लगी और पत्नी की भाँति इसके अनुकूल करने लगी।

वेश्या ने अपनी वेश्या वृत्ति तो छोड़ ही दी थी। मदिरा पान का व्यवसन उसे लग ही चुका था, मदिरा पान करने वाले को मांस अवश्य ही चाहिये, फिर साज शृङ्गार, वस्त्राभूषणों, तेल, फुलेल, कामोद्दीपक अंगराग सभी के लिये तो धन चाहिये। पूरी गृहस्थी का खर्च था। उस वेश्या के एक दो नहीं नौ पुत्र हो चुके थे। कामना कुछ नहीं। इतना लम्बा चौड़ा गृहस्थी का खर्च कहाँ से पूरा हो। यदि आय न हो और व्यय ही होता चले यो समुद्र भी रीते हो सकते हैं। पिता का जो धन था, वह शनैः-शनैः समाप्त हो चुका। पुत्र को मांस मदिरा अवश्य चाहिये। अब उसे कुछ करने की चिन्ता हुई। क्या करता पाश हाथ में लेकर जंगलों में जाता। हरिनों को मार लाता। तीर कमान से बहुत से पशुओं की हत्या कर लाता। मांस तो इस प्रकार आ जाता, मदिरा आदि ऊपर के खर्च के लिये चोरी कर लाता, डाका डालता, जुआ खेलता। जूए में कभी बहुत सा धन मिल जाता, कभी सब को हार जाता, तो फिर कहीं से लूट पाट करके लाता। सारांश कि अब वह पूरा चोर, ज्वारी, डाकू, हिंसक तथा निर्दयी बन गया। परिस्थित में पड़कर सभी शील, सदाचार ज्ञान ध्यान को भूल गया। अब तो उसे एक ही धुनि थी, कैसे मेरा काम चले कैसे मेरे कुटुम्ब का पालन-पोषण हो। अब तो उसे उस बहुत कुटुम्ब वाली वेश्या के भरण पोषण की चिन्ता थी। अब उसके लिये कर्तव्याकर्तव्य का, भले बुरे का

कुछ भी विचार नहीं रह गया। या जिस उपाय से धन आ जाय उसे ही करने लगता।

किसी धनिक को जाते देखता, तो वहाँ उससे आगे बनावटी सोना डाल देता। जब वह उठा लेता तो उससे कहता—"आधा भाग इसमें हमारा भी है, नहीं अभी राजकर्मचारियों को पकड़वा दूँगा। वह डर जाता। सौ रुपये में बात तै होती, उससे पचास रुपया लेकर चल देता। वह बनावटी सुवर्ण दो रुपये का भी नहीं होता। इस प्रकार अनेक प्रकार से लोगों को ठगता। एकान्त में किसी को देखता तो उसे लूट लेता किसी की हत्या कर देता। घोर जंगल में उसने ऐसी गुप्त गुफायें बना रखी थीं, कि वहाँ धनिकों के लड़कों को ले जाकर बन्द कर देता, फिर किसी से मिल जुलकर दस–पन्द्रह हजार रूपये में मामला तै होता, उनसे रूपये लेकर छोड़ देता। कभी-किसी स्त्री को फुसिलाकर ले जाता, उसके गहने उतार लेता, उसे मारकर नदी में फेंक देता। कभी दस–पद्रह लुटेरों के संग जाकर डाका मार लाता। सशस्त्र होकर किसी धनिक के घर जाकर उनकी स्त्रियों के हाथ पैरों को काटता, उँगलियों को जला-जला कर उन से गड़ा हुआ द्रव्य पूछता, इस प्रकार अनेक यातनायें देकर उनका सर्वस्व हरण करके साथियों को लेकर लौट आता। उस धन को सबको बाँट देता। अधिक कहाँ तक कहें धन प्राप्ति के लिये वह जो भी करना पड़ता उसे ही करता। इस प्रकार पाप करते-करते वह बूढ़ा हो गया।

यह सब सुनकर खिन्न चित्त होकर शौनकजी ने पूछा— "सूतजी! यह बात कुछ हमारी समझ में आई नहीं, कि इतना सदाचारी, इतना शील सम्पन्न वह मातृ पितृ भक्त अजामिल सहसा एक ही बार उस वेश्या को देखकर इतना आसक्त क्यों हो गया। अजी, ऐसा होता है, कि नित्य साथ रहने से शनैः-

शनैः प्रेम बढ़ जाता है, एक दूसरे के प्रति प्रेम हो जाता है। उस वेश्या को उसने पहिले कभी देखा नहीं, जान नहीं, पहिचान नहीं, बोल नहीं, चाल नहीं, संग नहीं, संपर्क नहीं, एक बार देखते ही इतना मोह हो जाना यह तो हमें जादू-सा मालूम पड़ता है। इसके पहिले उसने और भी तो बहुत-सी सुन्दरी स्त्रियों को देखा होगा, उन पर इसका मन क्यों नहीं गया, इसी में ऐसी क्या विशेषता थी, कि देखते ही अपनेपन को भूल गया ?"

यह सुनकर अत्यन्त ही खिन्न मन से सूतजी कहने लगे—"भगवन् ! अब मैं क्या बताऊँ, यही कहना कि ये पूर्व जन्म के कोई संस्कार हैं। बहुत से स्त्री पुरुष जीवन भर हमारे साथ रहते हैं, एक से एक सुन्दर एक से एक रूप लावण्य युक्त उनकी ओर कभी मन जाता ही नहीं। पूरा परिचय भी नहीं होता, इसके विपरीत किसी को देखते ही चित्त उसकी ओर खिंच जाता है, पल भर में उससे आत्मीयता हो जाती है। इससे मैं इसी परिणाम पर पहुँचा हूँ, कि ये सब पूर्व जन्म के संस्कार हैं। पहिले जन्मों में जिनसे सम्बन्ध रहा है, प्रारब्धवश जब वे सन्मुख आ जाते हैं तो ऐसा लगता है, ये हमारे न जाने कितने दिनों के परिचित हैं। बातें होते ही घनिष्टता बढ़ जाती है और अत्मीयता स्थापित हो जाती है। इस विषय में आपको मैं एक अत्यन्त ही रोचक, शिक्षाप्रद कहानी सुनाता हूँ, उसे आप सब सावधानी के साथ श्रवण करें।

छप्पय

कहाँ वेद को पाठ कहाँ चोरी जूआ नित।
कहाँ परम अनुराग पाप में फस्यो कहाँ चित ॥
कहाँ कुलवती सती कहाँ बेश्या पणनारी।
किन्तु अजामिल बुद्धि भाग्य ने तुरत बिगारी ॥
व्रत पालन आचार सद्, वेश्या सँग तैं नसि गयो।
व्याधिनि वेश्या बनि गई, द्विज फन्दा महँ फँसि गयो ॥

पूर्वजन्म के संस्कार ही सम्बन्ध में कारण हैं

[३५४]

लब्ध्वा निमित्तमव्यक्तं व्यक्ताव्यक्तं भवत्युत ।
यथायोनि यथाबीजं स्वभावेन बलीयसा ॥*

(श्री भा० ६ स्क० १ अ० ५४ श्लो०)

छप्पय

पूर्वजन्म को पाप शाप मनमहँ रह जावे ।
अपर जन्म महँ आइ पाप फल निज दरशावे ॥
काऊ को धन हर्यो रुग्यो बनिकें सो लेगो ।
ह्वै के परवश पिता बन्यो वाकूँ वो देगो ॥
बिधवा बनि पर पुरुष कूँ, पाप दृष्टि तें लखें जे ।
व्याह होत ही मरे पति, पुनि पुनि बिधवा बनें ते ॥

जन्मान्तरीय संस्कार के बिना सहसा घनिष्ट सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। घर में, ग्राम में, पुर में, नगर में, देश में, संसार में कितने जीव हैं, कितने पुरुष हैं, हमारे लिये न होने के बराबर हैं। हमारे घर में कितने नौकर आते हैं वर्षों काम करके चले जाते हैं। रात्रि दिन साथ रहते हैं। जहाँ गये, फिर हम उनका

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! प्रारब्ध रूप निमित्त को पाकर प्रबल वासना रूप स्वभाव द्वारा योनि और बीज के अनुरूप व्यक्त (स्थूल) और अव्यक्त (सूक्ष्म) शरीर उत्पन्न होते हैं।"

नाम ही नहीं भूल जाते हैं सूरत भी भूल जाते हैं किन्तु कोई नौकर ऐसा आता है कि रात्रि-दिन अपने घर की तरह काम में जुटा रहता है, घर भर का उस पर मोह हो जाता है सब उसे अपने परिवार का ही पुरुष समझते हैं। एक माता के पेट से दो भाई हुए है, सहोदर हैं। किंतु एक दूसरे का गला काटने को सर्वथा तत्पर रहते हैं। इसके विपरीत कोई दूसरे वर्ण का है, दूसरे देश का है, दूसरी भाषा बोलने वाला है वह सर्वस्व हमें समर्पण कर देता है, सगे सम्बन्धियों से बढ़कर प्यार करता है, हमारे प्रत्येक कार्य में सहायक होता है। एक ऐसा पुरुष है जो सुन्दर से सुन्दर लड़कियों से प्रस्ताव होने पर भी विवाह नहीं करता है और किसी काली कलूटी कुरूपा से हठ पूर्वक विवाह कर लेता है, इन सब बातों को देखकर इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, कि मनुष्य पूर्वजन्मों के सम्बन्धों से, पाप शापों से विवश हो जाता है। नहीं तो सोचिये, अपना अपयश कौन चाहता है। किसकी इच्छा है, कि हमारी अपकीर्ति हो लोग हमें बुरा भला कहें, किन्तु इतनी बड़ी कीर्ति को मनुष्य तनिक-सी बात पर खो देता है। हमने बहुत से साधुओं को देखा है, उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी, बड़ा मान सम्मान था, लोग परमात्मा की भाँति उनकी पूजा करते थे, अन्त में किसी के चक्कर में ऐसे फँसे की सब प्रतिष्ठा धूलि में मिल गई सब मान सम्मान पानी में बह गया और वणिकवृत्ति करने लगे। इच्छा न रहने पर भी वे फँस गये। प्रारब्ध ने—अदृष्ट ने बलपूर्वक उन्हें ऊपर से पकड़कर नीचे पटक दिया। भगवान् की शरण में जाने के अतिरिक्त और इसके लिये कोई अन्य उपाय नहीं है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह जीवपूर्व जन्मों के संस्कारों के कारण अवश होकर काम करने लगता है। ये संस्कार ही प्राणियों से कर्म कराते हैं और उन्हें चौरासी के चक्कर में

घुमाते हैं। जो मनुष्य जैसी वासना लेकर मरता है, दूसरे जन्म में वह वैसा ही शरीर धारण करता है। शाप और अनुग्रह भी प्रारब्धवश ही प्राप्त होते हैं। कोई पूर्वजन्म का खोटा संस्कार होता है, तो समर्थ पुरुष शाप दे देते हैं, कोई अच्छा संस्कार उदय हुआ तो संत पुरुष के हृदय में अनुग्रह करने की प्रेरणा हो जाती है। जीव वासना की पूर्ति के लिये ही पुनः-पुनः जन्म धारण करता है और सुख दुःख भोगता है। इस विषय में एक अत्यन्त ही रोचक कहानी सुनिये।"

जिस मथुरापुरी में भगवान् आनन्द कन्द भगवान देवकी नन्दन स्वयं साक्षात् अपने स्वरूप से अवतरित हुए, जहाँ नित्य ही श्री हरि की सन्निधि रहती है, जिस पुरी का लीलाधारी प्रभु कभी परित्याग नहीं करते उसी पावन पुरी में एक साधु रहते थे। साधु बड़े ही सज्जन वैराग्यवान् तथा सदाचारी थे। योगाभ्यास से उन्हें प्रेम था, एकान्त में रहकर यम नियमों का पालन करते हुए दूध, फल मक्खन आदि योग साधना में उपयोगी नियमित आहार को वे करते थे। कुछ उनके भक्त थे, जो उनकी द्रव्यादि से सहायता करते थे।

वैसे तो साधु के मन में कोई सांसारिक वासना नहीं थी, किन्तु फिर भी एक परमार्थिक वासना थी। मुनियो! साधु चाहे त्यागी, सदाचारी, वैराग्यवान भी क्यों न हों किन्तु फिर भी दो वासनायें प्रायः रह ही जाती हैं। एक तो भंडारा करने की वासना और एक आश्रम बनाने की वासना। बस, इन दो वासनाओं में ही बँधकर साधु अपने यथार्थ लक्ष्य से भ्रष्ट हो जाता है, उसे फिर जन्म लेना पड़ता है।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! इसमें अपना क्या स्वार्थ है, यह तो परोपकार है, दस आदमियों के मुँह में अन्न पड़े तो यह कौन-सा बुरा काम है। साधु के गृहस्थी नहीं, बाल

बच्चे नहीं, जिनके लिये घर बनावें। मान लो आश्रम बना ही लिया, तो जो आवेगा वही रहेगा। किसी-न-किसी का भला ही होगा। इसे आप बुरा क्यों कहते हैं ?"

सूतजी इस पर शीघ्रता के साथ बोले—"महाराज ! मैं बुरा नहीं कहता। अच्छा ही सही, किन्तु है तो पुण्य का काम हीं पाप से नरक मिलता है, पुण्य से स्वर्ग मिलता है। भंडारे और आश्रम के बनाने में छिपी हुई कीर्ति की इच्छा तो रहती ही है। पृथ्वी पर जिसकी जितने दिन कीर्ति रहेगी, उतने दिन उसे स्वर्ग में अवश्य रहना पड़ेगा। जैसे किसी का नाम है मदन मोहन उसने एक मदन मोहन दातव्य औषधालय बनवा दिया। मदन मोहन तालाब खुदवा दिया। मदन मोहन विद्यालय बनवा दिया, तो जब तक ये वस्तुएँ रहेंगी तब तक उन्हें स्वर्ग में सुख भोगने पड़ेंगे। इसी प्रकार किसी सच्चिदानन्द नाम के स्वामी ने सच्चिदानन्द आश्रम बना दिया, तो वे मुक्ति से तो वञ्चित हो गये। मुक्ति मार्ग वालों के लिये जैसा ही स्वर्ग वैसा ही नरक, पथभ्रष्ट तो हो ही गये।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"अजी, सूतजी ! यह तो आपने बड़ी गड़बड़-सड़बड़ कर दी। देखिये, व्यास वाल्मीकि हैं, इनका नाम तो अजर अमर है। फिर तो इनकी मुक्ति नहीं हो सकती ?,,

यह सुनकर सूतजी बड़े जोरों से हँस पड़े और बोले—"महाराज ! आप चाहें गड़बड़ समझें चाहें सड़बड़। जो सत्य बात है वह तो मुझे इस आसन पर बैठकर कहनी ही पड़ेगी। हाँ, ये व्यास, वाल्मीकि आदि महर्षि तब तक मुक्त नहीं हो सकते जब तक कि इस कल्प की सृष्टि समाप्त न हो जाय। देखिये व्यासजी तो अभी हैं ही, उन्हें तो अगले मन्वन्तर में सप्तर्षि बनना होगा। हमने ऐसा सुना है, वाल्मीकिजी कलियुग में एक

ब्राह्मण के रूप में प्रकट हुए हैं और उन्होंने मानस रामायण की रचना की है। मुक्त हो जाते तो जन्म कैसे लेते ?"

यह सुनकर चिंता के स्वर में शौनकजी बोले—"तब तो सूत जी ! हम जो यह यज्ञ याग कथा कीर्तन कर रहे हैं इनका फल भी स्वर्ग ही है क्या ?"

इस पर हँसकर सूतजी बोले—"महाभाग ! आप चिन्ता न करें आप तो मुक्त ही हैं। भगवद् प्रीत्यर्थ किया हुआ कार्य बन्धन का कारण नहीं होता। बन्धन उनको होता है, जो मुक्ति के इच्छुक है। भक्त तो मुक्ति को ठुकरा देते हैं। जैसे बालक जब मचल जाता है, तो माता पिता उसे खिलौना देकर शांत कर देते हैं। भगवन् ! वैसे ही यह मुक्ति है। भक्त इस चक्कर में नहीं आते, वे खिलौने को ठुकरा देते हैं, माता के हृदय से चिपटकर उसका मधुर-मधुर दूध पीना चाहते हैं। भगवत् सेवा के बिना मुक्ति को ग्रहण नहीं करते। ये व्यास, वाल्मीकादि हुए, आप जैसे परोपकारी सन्त हुए। ये तो नित्य मुक्त ही हैं। रांड मुक्ति में और रखा ही क्या है। गुम्म-सुम्म हो जाना इसी का नाम मुक्ति हो तो पाषण सब मुक्ति हैं। आप अहर्निशि भगवान् की मधुरातिमधुर कथायें सुन रहे हैं, नित्य भगवान् का भोग लगाकर प्रसाद पा रहे हैं, किसी को मारकर मुक्ति प्राप्त होती होगी, आप तो जीते जी मुक्ति का आनन्द लूट रहे हैं। हाँ, तो उन मथुरा के महात्मा को साधुओं का एक भण्डारा करने की प्रबल वासना थी। इसी निमित्त उन्होंने शनैः-शनैः अपने आहार में से बचाकर कुछ द्रव्य एकत्रित किया। धनी लोग उनका सम्मान करते थे, अतः कुछ काल में उन पर बहुत द्रव्य हो गया।

मुनिवर ! जिन दिनों की मैं बात बता रहा हूँ, उन दिनों द्रव्य का ही मूल्य था। अन्नादि वस्तुओं का कोई मूल्य नहीं

था, एक रुपया देने पर चाहे जितना अन्न ले लो, चाहे जितना घृत। उन दिनों एक निष्क—सुवर्ण की मुहर—बहुत अधिक मानी जाती थी, ऐसी सुवर्ण की मुहरें उन्होंने १५० इकट्ठी कर लीं। सोचा—"इतने से लाखों साधुओं का भण्डारा हो जायगा। उन्हीं दिनों तीर्थराज प्रयाग में अर्धकुम्भी का पर्व था। साधु ने सोचा—"प्रयागराज चलें। वहाँ त्रिवेणी स्नान भी मकर भर करेंगे और भण्डारा भी हो जायगा, किन्तु इतने द्रव्य को ले कैसे जायँ। यही उन्हें चिन्ता थी। महाभाग! यह धन आते ही भाँति-भाँति की उपाधि खड़ी करता है, इसलिये श्रेष्ठ पक्ष तो यह है, कि साधु को धन का संग्रह करना ही न चाहिए यदि प्रारब्धवश ऐसा न कर सके, ग्रहण करना ही पड़े तो आते ही उसे तुरन्त खर्च कर देना चाहिये। पास में रहेगा तो अनेक संकल्प विकल्प उठेंगे। इसे दें या उसे दें यह काम करें या वह काम करें। दश चापलूस पीछे लग जायगे, जिसे न दो उससे शत्रुता मोल लो। यह धन आते ही पहिले तो सब पर अविश्वास उत्पन्न होता है जहाँ चार पैसे इकट्ठे हुए नहीं कि सभी पर संदेह होने लगता है, लोग ताड़ जाते हैं इस पर अवश्य कुछ खुटका है जिन दिनों की यह घटना है, उन दिनों मार्ग चलना साधारण कार्य नहीं था, यातायात की वर्तमान समय की भाँति सुविधायें नहीं थी। यात्री या तो घोड़ागाड़ी बैल गाड़ियों पर यात्रा करते थे या पैदल। मार्ग में बड़े-बड़े बीहड़ वन पड़ते थे। स्थान-स्थान पर लुटने का भय होता था। धनिक लोग अस्त्र शस्त्रों के साथ बड़े प्रपञ्च के साथ यात्रा करते थे। साधु को वे सब सुविधायें कैसे प्राप्त हो सकती थीं। किसी यात्री के समूह के साथ चलना वे चाहते नहीं थे। कोई ताड़ गया तो गोविन्दाय नमोनमः कर देगा। इसलिये उन्होंने एक युक्ति सोची। एक बड़ी-सी खोखली गुप्ती बनाई। उसमें १५० मोहरों को भर दिया। ऊपर

से पेचदार ऐसी मूँठ बनाई कि किसी को प्रतीत ही न हो यह पृथक् है, देखने वाले समझें मुड़ी हुई लाठी है। अब क्या था प्रबन्ध हो गया। एक लँगोटी लगाई एक हाथ में यह गुप्त डण्ड दूसरे में कमण्डलु। जयजय सीताराम, प्रयागराज के लिये महात्मा जी चल पड़े। चलते-चलते नगर ग्रामों को पार करते, नद नदियों को नाँघते, भिक्षा माँगते खाते, साधु बाबा यमुनाजी को छोड़कर गङ्गाजी के किनारे आये और किनारे-किनारे प्रयागराज की ओर बढ़ने लगे।

जहाँ काली नदी श्रीगङ्गाजी से आकर मिलती हैं उस कान्यकुब्ज (कन्नौज) नगर के समीप वे पहुँचे वहाँ एक धनी वैश्य रहता था वैसे तो वह बड़ा कृपण था किन्तु उसके कोई सन्तान नहीं थी। इसी लोभ से कि किसी साधु सन्त के आशीर्वाद से मेरे पुत्र हो जाय, वह आये हुए साधुओं की यथाशक्ति सेवा किया करता था। उन्हें भोजन करा देता, वस्त्र दे देता। जब उसने इन इतने विरक्त तेजस्वी महात्मा को देखा, तो वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ और इन्हें बड़े सत्कार से घर ले गया। विधिवत् पूजा करके प्रेमपूर्वक प्रसाद पवाया। लेटने को सुन्दर तख्त बिछा दिया उस पर मुलायम गद्दा बिछा दिया। महात्माजी लेट गये, तो वह प्रेमपूर्वक पैर दबाने लगा।

महात्मा दिन भर के थके थे, भूखे प्यासे थे। पेट भर के सुंदर स्वादिष्ट भोजन मिला, सोने को गुदगुदा गद्दा। पड़ते ही वे सो गये, उन्हें पता ही न रहा बनिया कब तक पैर दबाता रहा।

बनिया ने जब देखा, महात्मा तो सो गये हैं, तो वह उठकर घर के भीतर जाने लगा। सहसा उसकी दृष्टि महात्मा के समीप ही रखे हुए उस वस्तु पूर्ण डन्डे पर पड़ी। डंडे की सुन्दरता से उसके मन में कुतूहल हुआ कैसा सुन्दर डंडा है, कुछ बुरी भावना से नहीं वैसे ही देखने के लिये उसने डंडे को ठड़ा कर लिया।

उठाया तो वह बड़ा भारी मालूम हुआ। उसे सन्देह हुआ काठ का डंडा तो इतना भारी होता नहीं। यह किस वस्तु से बना है। कुतूहल वश उस पर वह हाथ फेरने लगा, उसकी मूठ को देखने लगा। ध्यान से देखने से उसे ऐसा लगा यह तो पेच है। बल लगाकर परीक्षार्थ उस मूठ को घुमाया। पेंच तो था ही खुल गया खोलकर जो देखा तो उसमें कुछ खनखनाहट हुई। कृपण तो वह था ही, बनिया का संदेह बढ़ा। उसे लिये हुए भीतर चला गया। खोलकर मुहरें निकालीं निकालकर गिनीं पूरमपट्ट १५० निकलीं अब तो बनिये के मुँह में पानी भर आया। बनैनी को बुलाकर पूछा—"सुनती है, साधु तो बड़ा करामाती निकला, इसके डंडे में तो सोना पैदा होता है।"

स्त्री ने देखकर कहा—"रहने भी दो, किसी की वस्तु पर क्यों चित्त चलाते हो, जैसी है वैसी ही इन्हें भरकर उसके पास रख आओ।"

बनिया ने कहा—"रख आवें तो साधु क्या करेगा, इसके न घर न द्वार, न स्त्री न बच्चे, ऐसे ढोते-ढोते मर जायगा, किसी न किसी के हाथ ही लगेंगे। हमारे यहाँ रहेंगे तो अच्छा है, किसी काम में लगेंगे। व्यापार में लगेंगे, बढ़ेंगे, कुछ धर्म पुण्य होगा।"

स्त्री ने व्यङ्ग के स्वर में कहा—"व्यापार ऐसे अधर्म अन्याय से होता है, पाप के पैसे से क्या पुण्य ? पुण्य करो तो धर्म पूर्वक करो, न्याय से पैदा करके करो।"

बनिया ने कहा—"स्त्री में जितनी बुद्धि होगी, उतनी ही बात करेगी। तुझे व्यापार का क्या पता। तू तो यही जानती है, नोंन नहीं है, तेल नहीं है। लँहगा फट गया है, ओढ़नी पुरानी हो गई है। पैसा तो अन्याय से पैदा होता है, आज जिनका इतना नाम है, जो धर्मात्मा करके प्रसिद्ध हैं, पता है, ये किस प्रकार

गरीबों का रक्त शोषण करके पैसा पैदा करते हैं। न्याय से धर्म पूर्वक तो पेट भले ही भर ले। सो पेट भी भरना कठिन है, पैसा जमा तो अन्याय से होगा, पाप से ही पैसा आता है। खुसाला जो भी करे वही न्याय है, वही धर्म है।"

स्त्री ने व्यङ्ग से कहा—"अन्याय अधर्म से पैसा पैदा नहीं होता है लालाजी! अन्याय से पाप से, चोरी से, पैसा जुड़ जाय, तो जो चोर, झूठे, नीच पुरुष हैं सभी लखपती करोड़पती हो जायँ। पैसा इकट्ठा होता है, प्रारब्ध से. प्रारब्ध में न हो तो कितना अन्याय करो—कितना भी झूठ बोलो—पैसा न आवेगा।"

बनिया ने कहा—'यही तो मैं कहता हूँ, मेरा प्रारब्ध था, तभी तो साधु मेरे घर आ गया। नहीं कितने लोग नगर में हैं। उसने तो कितने यत्न से कितना छिपाकर रखा था प्रारब्धहीन पुरुप की दृष्टि थोड़े ही जा सकती थी। मेरे प्रारब्ध में था तभी मेरी दृष्टि गई, इसे खोलने की बुद्धि हुई। किसी गृहस्थ का होता, तो मैं हाथ भी न लगाता उसके बाल बच्चे कोसते। किन्तु साधु का रुपया लेकर तो उसका उपकार ही करना है, उसे झंझटों से मुक्त करना है। यदि यह साधु होगा, तो प्रसन्न ही होगा, यदि साधु वेप में कोई ठग हुआ, तब तो कोई बात नहीं, यह भी कहीं से ठगकर ही लाया होगा!"

स्त्री बिचारी क्या उत्तर देती। अपने पति की इच्छा समझकर उसके मन में भी लोभ आ गया। सब अशर्फियाँ निकाल लीं और उतने ही तोल के उसमें गोल गोल मिट्टी के खपड़े भर दिये। गुप्ती को उसी प्रकार बन्द कर साधु के समीप रख दिये। दोनों अकस्मात् इतना धन पाकर बड़े प्रसन्न हुए।

प्रातःकाल हुआ, साधु जगे। उन्होंने वैश्य के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा—"लालाजी! आपके घर में हमने

बड़ा सुख पाया। यात्रा का कुछ भी कष्ट प्रतीत नहीं हुआ। अब हम जायेंगे। संक्रान्ति का पर्व समीप है, दिन रात्रि चलेंगे तब पहुँच जावेंगे। मैं मकर की संक्रान्ति को प्रयागराज अवश्य पहुँच जाना चाहता हूँ।"

बनिया ने बनावटी विनय दिखाते हुए कहा—"महाराज! आप कैसी बातें कह रहे हैं। यह आपका घर है, लौटते समय अवश्य मुझे दर्शन दें। इस समय तो आप शीघ्रता में हैं, माघ स्नान करके जब आवें, जब १०–२० दिन रहकर हमें अपने सत्संग का लाभ अवश्य दें।"

साधु ने कहा—"हाँ लालाजी! लौटते समय मैं अवश्य आऊँगा। आप दोनों बड़े धर्मात्मा हैं।" इतने में ही स्त्री ने कहा—"महाराज! और तो आपकी दया से हमारे यहाँ सब सुख है, किन्तु इस इतनी सम्पति को पीछे भोगने वाला कोई नहीं है।"

साधु समझ गये, उनके पास धनर्थी पुत्रार्थी आते ही रहते थे। बड़े स्नेह से बोले—"मङ्गलमय श्रीहरि सब मङ्गल ही करें। सेठानीजी! तुम कोई चिन्ता मत करो।" इस प्रकार दोनों को समझा बुझाकर साधुजी वहाँ से प्रयागराज की ओर चल दिये और दिन रात्रि चलकर संक्रान्ति से दो दिन पूर्व प्रयागराज पहुँच गये।

तीर्थराज प्रयाग में माघ की संक्रान्ति का प्रति वर्ष महान् पर्व होता है, फिर कुम्भ अर्धकुम्भी के समय तो पूछना ही क्या देश देशान्तरों के साधु महात्मा एकत्रित होते हैं। सर्वत्र साधु-सन्तों के अखाड़े-ही-अखाड़े दिखाई देते हैं। साधु बाबा की इच्छा थी, संक्रान्ति के दिन सबका निमन्त्रण करें। इसी संकल्प से वे एक प्रतिष्ठित महन्त के यहाँ उतरे और उतरते ही उन्होंने अपना मनोगत भाव कह सुनाया। स्थानधारी महन्त तो माधवजी

से यह मनाते ही रहते हैं, कोई भंडारा करने वाला जिजमान आ जाय। फिर क्या था महन्त जी ने बात-की-बात में सब अखाड़ों में निमन्त्रण भिजवा दिया। तई मँजने लगी दूध का और सूजी का प्रबन्ध होने लगा। महन्तजी के प्रधान भंडारी ने कहा—"बाबाजी पर कुछ दीखता तो है नहीं। कुछ पहिले द्रव्य तो माँगना चाहिये।" महन्तजी का उधर ध्यान ही नहीं था भंडारी के कहने पर उन्होंने कह दिया—"अच्छी बात है कुछ माँग लो।"

भंडारी ने साधु से कहा—"महाराज जी! सूजी आनी है। शक्कर, घृत, आटा सभी आना है, रुपये पैसे का क्या डौलडाल है। किसी सेठ के नाम की आप पर हुण्डी है, या कोई पीछे रूपये लेकर आ रहा है।"

साधु ने दृढ़ता के स्वर में कहा—"आपको इसकी क्या चिंता कहीं से आवें, रुपये आपको प्रातःकाल मिल जायेंगे।"

देखने में वे बड़े सज्जन तेजस्वी प्रतीत होते थे, उनकी दृढ़ता पूर्ण बात को सुनकर महन्तजी ने बात टालते हुए कहा— "नहीं, नहीं, बाबाजी ऐसी अविश्वास वाली बात नहीं। यहाँ भी भगवान् के भंडार में कुछ कमी नहीं है। रुपये आते रहें।" बात यहीं समाप्त हो गई।

रात्रि हो गई, सब सो गये। साधु को रहने के लिये महन्त जी ने एक अच्छी-सी कुटी दे दी थी। भंडारे की बात न होती तो कहीं बाहर धूनी आदि बता देते। किन्तु जो इतना बड़ा भंडारा कर रहा है, उसका तो विशेष सत्कार करना ही चाहिये। सबके सो जाने पर साधु ने अपनी गुप्ती खोली। पास में ही एक दीपक जल रहा था। उसके प्रकाश में साधु ने जो कुछ देखा उस पर उसे सहसा विश्वास न हुआ। उसने घबड़ाकर अपनी आँखें मलीं कि मैं स्वप्न तो नहीं देख रहा हूँ। किन्तु

साधु बाबा सो तो रहे ही नहीं थे, जाग रहे थे। जो वे देख रहे थे, सत्य ही था। गुप्ती की सुवर्ण मुद्रायें तो कान्यकुब्ज देश के श्रेष्ठी के यहाँ रह गई थीं। वे तो खपड़े के ठीकरे थे। साधु को अत्यन्त ही मानसिक दुःख हुआ। उसकी समझ में बात आ गई। मेरे साथ विश्वासघात किया गया अब क्या करें। आधी-रात्रि का समय था। सीधा कुटी से निकलकर संगम की ओर चला।

भगवती भागीरथी अपनी बहिन कालिन्दी से मिलने के लिये द्रुतगति से दौड़ी जा रही थी। सूर्यतनया यमभगिनी अपनी मन्थर गति से गङ्गा की प्रतीक्षा-सी कर रही थी। चंचल बालिका के समान गङ्गाजी यमुना की नीली साड़ी में अपने अंगों को समेट कर घुस जाती और फिर प्रकट होकर हँस पड़ती दोनों बहिनें गले से गला लगाकर मिल जातीं। यह मिलन संगम पर प्रतिपल होता है, अनादिकाल से यह संगम हो रहा है, कब तक होता रहेगा, यह तो चार मुँह वाले बूढ़े बाबा की पोथी में लिखा हो किसी ने उसे बाँचा हो तो वह जाने। अपने राम को तो इसका मुनियो ! पता है नहीं।

साधु बाबा लज्जा संकोच, आत्मग्लानि से अत्यन्त ही दुखी थे। उसी दुःख के आवेग में वे गङ्गा यमुना की तीक्ष्ण धाराओं के संगम में कूद गये। पता नहीं उनके शरीर का क्या हुआ उन्होंने आत्महत्या कर ली। यही कुशल की बात थी, कि कहीं अन्यत्र नहीं की, नहीं तो प्रेत बनना पड़ता।

साधु की कथा तो समाप्त हुई अब सेठजी की कथा सुनिये। उन स्वर्ण मुद्राओं को लेकर सेठ ने एक बड़ा व्यापार किया। प्रारब्ध की बात तो देखिये, कभी-कभी अन्याय का धन भी बहुत फलता फूलता है। उस धन से जो व्यापार किया, उसमें दिन दूना रात्रि चौगुना लाभ होने लगा। लालाजी की बड़े-बड़े

नगरों में कोठियाँ बन गई हुण्डियाँ चलने लगीं। यही नहीं उनकी पत्नी की सूनी कोख भी भर गई, कुछ काल के अनन्तर उनकी पत्नी ने एक पुत्र रत्न को भी प्रसव किया।

सेठ के पुत्र क्या हुआ, साक्षात् कामदेव का अवतार ही था। उसके अङ्ग प्रत्यंग से सौंदर्य फूटफूटकर निकल रहा था। विशाल मस्तक पर काले घुँघराले बाल थे, बड़े-बड़े विशाल नेत्र। जो भी एक बार उस बच्चे को देख लेता वही मन्त्रमुग्ध की भाँति उसे देखता का देखता ही रह जाता। वृद्धावस्था में इतने अनूप रूप युक्त पुत्र को पाकर वैश्य दम्पत्ति के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। जैसे अत्यन्त कृपण अपने धन की रक्षा करता है, उसी प्रकार माता-पिता उस पुत्र का पालन-पोषण करने लगे। जिस दिन से पुत्र का जन्म हुआ, उसी दिन से उनका विभव और भी बढ़ गया। वैसे वैश्य कृपण था, किन्तु पुत्र के निमित्त वह जितना ही व्यय करता, उतनी ही उसे प्रसन्नता होती। बच्चे को तनिक भी सर्दी हुई या रात्रि में छींक आ गई, तब से बड़े चिकित्सक बुलाये जाते और धन पानी की भाँति बहाया जाता। जिस प्रकार बड़े-से-बड़े राजकुमार का पालन पोषण होता है, उसी प्रकार उस वणिक पुत्र का पालन पोषण होने लगा। शनैः-शनैः बच्चा बड़ा हुआ।

पढ़ाने को पंडित रखे गये, उसकी तीक्ष्ण बुद्धि का क्या कहना। एक बार जो सुन लेता उसे ही याद कर लेता। धर्म में उसकी ऐसी अभिरुचि थी, कि सदा पंडितों और साधु-सन्तों की भीड़ लगी रहती। दूर-दूर के विद्वान् उसकी प्रशंसा सुनकर आते। सबका बड़ी सत्कार करता, जो कोई जिस वस्तु की याचना करता उसे वहीं देता। वह कभी याचकों को विमुख न जाने देता। उसे धर्म-कार्यों में साधु, ब्राह्मणों को भोजन कराने में आन्तरिक सुख होता। दूर-दूर से लोग उस धर्मात्मा वणिक्

पुत्र के दर्शनों के लिये आते इस प्रकार उसकी अवस्था सोलह वर्ष की हो गई। माता पिता की हार्दिक इच्छा थी, अब अपने पुत्र को बहू के संग देखें, किन्तु वह विवाह करना ही नहीं चाहता था। इससे माता-पिता को बड़ा क्लेश होता।

इतना सर्वगुणसम्पन्न पुत्र बिना विवाह के रह जाय। यह तो कुछ भी नहीं हुआ। अब माता-पिता साधु-महात्मा और ब्राह्मणों की सेवा करने लगे, इस लोभ से कि वे हमारे बच्चे को समझा-बुझाकर विवाह के लिये सहमत कर लें।

माता-पिता के बहुत आग्रह से साधु ब्राह्मण भी समझाने लगे—"भैया, देखो! हम साधु सेवा को मना नहीं करते। भगवान् ने तुम्हें धन दिया है, यथेष्ट दान पुण्य करो, धर्म में लगाओ यही तो धन का सच्चा सदुपयोग है किन्तु भैया धर्मपत्नी के बिना धर्म होता नहीं। बिना पत्नी के यज्ञादि सब निष्फल हैं। अतिथि सेवा अकेला पुरुष--बिना पत्नी वाला मनुष्य--कर ही नहीं सकता। अतिथियों का जैसा सत्कार घर वाली कर सकती है, वैसा यह दाढ़ी मूँछ वाला पुरुष कैसे कर सकता है। अतः विवाह कर लो। दोनों मिलकर धर्म कार्य करो।

साधु महात्मा और ब्राह्मणों के अत्यन्त आग्रह से उस श्रेष्ठि कुमार ने दारा ग्रहण करना स्वीकार कर लिया। अब क्या था, माता-पिता के हर्ष का तो ठिकाना ही नहीं रहा। सर्वलक्षण सम्पन्न कन्या की खोज होने लगी। जैसे ये कोट्याधीश थे, वैसे ही किसी माथुर मंडल के नगर सेठ की भाग्यवती, गुणवती, रूपवती कन्या के साथ उसका बड़े समारोह के साथ विवाह हो गया। माता पिता इस जुगल जोड़ी को देखकर फूले अंग नहीं समाते थे। जो भी देखता वही कहता यह तो रति कामदेव की जोड़ी है और वास्तव में वे दोनों इतने सुन्दर थे ही।

१८ वर्ष की अवस्था में मार्गशीर्ष महीने में उस श्रेष्ठिकुमार

का विवाह हुआ। उस वर्ष प्रयाग का पूर्ण कुम्भ था। बहुत से साधु महात्माओं के अखाड़े हाथी घोड़ा तथा ऊँटों को लिये हुए प्रयाग की ओर जा रहे थे। उस वणिक पुत्र ने बड़े स्नेह से अपने पिता से कहा—"पिताजी! हमारी भी इच्छा है, तीर्थराज प्रयाग में हम भी जाकर कुम्भ-स्नान कर आते। एक महीने वहाँ रहकर कल्पवास करें।

यह सुनकर बड़ी प्रसन्नता प्रकट करते हुए सेठ ने कहा—"भैया! बड़ी अच्छी बात है, तेरे पीछे हम भी त्रिवेणी स्नान और कल्पवास कर लेंगे। वैसे तो हम बहुत दिनों से मनसूबे बाँधते रहे, कभी इस गृहस्थी के जाल से निकास ही नहीं हुआ। अच्छी बात है, सब लोग बड़ी धूम धाम से चलेंगे। प्रतिष्ठानपुर में अपनी कोठी भी है। मुनीम रहते ही हैं सब प्रबंध हो जायगा।

अब क्या था। होने लगीं तैयारियाँ, लदने लगा नौकाओं पर सामान। बड़ी-बड़ी नौकायें तैयार की गईं। बहुत-सा धन, रत्न, अन्न, वस्त्र लादा गया। धर्मात्मा वणिककुमार तीर्थराज की यात्रा करेंगे। यह सुनकर सहस्रों लोग इधर-उधर से आ गये। सबके साथ नौकायें बड़ी सावधानी के साथ चलने लगीं। यद्यपि उस कुमार का विवाह हो गया था, किन्तु उसने अभी तक घूँघट उठाकर अपनी पत्नी का मुँह भी नहीं देखा था। अवसर ही कहाँ था, विवाह के कुछ ही दिनों पश्चात् तो प्रयाग राज की तैयारियाँ हो गईं। वह अपनी नौका में अकेला ही रहता, किसी को आने नहीं देता था। माता-पिता ने मोहवश सब नौकाओं के बीच में उसकी नौका रखी। बड़े-बड़े कुशल मल्लाह तैराक उसकी रक्षा में नियुक्त थे, कि नौका तनिक भी डगमग न हो। इस प्रकार बड़ी सावधानी से सबके सब संक्रांति के कुछ पूर्व प्रयाग राज में पहुँच गये। वहाँ पहुँच कर गङ्गा यमुना की मध्य की रजत चूर्णमयी बालुका में उस धनिक श्रेष्ठी के डेरे पड़े। चारों

ओर हल्ला हो गया एक बड़ा धर्मात्मा श्रेष्ठी पुत्र इस वर्ष कल्पवास करने आया है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! धर्मात्मा पुरुष का यश कपूर की सुगन्धि के समान सर्वत्र व्याप्त हो जाता है। आप सोचिये, धन को कौन छाती पर लाद ले जाता है। आज तक यह धन किसका हुआ है, झूठे ही लोग इसमें अपना ममत्व स्थापित करते हैं। भाग्यवश जिसे धन प्राप्त हुआ है, उसने उस धन से धर्म नहीं कमाया, कीर्ति नहीं फैलाई तो उसका धन व्यर्थ है। केवल वह उसका पहरेदार मात्र ही है। जब तक जीता रहेगा, बिना सोये खाये उसकी रक्षा करेगा, मरने पर सर्प होकर उसके ऊपर बैठा रहेगा। जिसने धन पाकर धर्म किया, यश कमाया, कीर्ति फैलाई उसी ने धन का यथार्थ उपभोग किया। जिसकी कीर्ति शेष है, वह मरकर भी जीवित ही है, जिसकी अपकीर्ति फैल गई, वह जीता हुआ भी मृतक के समान है। सो महाराज! उस वणिककुमार का दो चार दिन में ही दूर-दूर तक नाम हो गया। चारों दिशाओं से उसके समीप याचक आने लगे। वह भी वित्तशाठ्य न करके सभी को मुक्तहस्त से देता। जिसने जो माँगा वही दिया। जितना ही वह दान करता उतना ही उसकी सम्पत्ति बढ़ती। इससे माता-पिता को भी प्रसन्नता होती। संक्रान्ति के चार दिन पूर्व उसने अपने पिता से कहा—"पिताजी! हमारी इच्छा होती है, कि मेले में जितने साधु, महात्मा, ब्राह्मण, आये हैं, सबको हम एक दिन भोजन करावें। आपकी क्या आज्ञा है?"

सेठ को स्वयं तो उतना धर्म कार्यों में अनुराग नहीं था, किन्तु पुत्र को जिस कार्य से प्रसन्नता हो उस कार्य में उसे कोई कोई आपत्ति नहीं होती थी, यही नहीं उसे आन्तरिक सुख भी होता था। उसने बड़े उल्लास के साथ कहा—"हाँ बेटा! बड़ी

अच्छी बात है। तीर्थराज में बार-बार आना थोड़े ही होता है। जितना भी धर्म कर्म दान पुण्य बन सके, उतना ही अच्छा है। सब प्रबन्ध हो जायगा। तेरी जितनी इच्छा हो उतना दान पुण्य कर। जितना साधु सन्तों को भोजन कराना चाहे उतनों को करा।"

अब क्या था। बनने लगे लड्डू घुटने लगा हलुआ, छनने लगे मालपुआ, उतरने लगीं गरमा गरम खस्ता, पूड़ी, कचौड़ियाँ, चढ़ने लगे खीर के हंडे। दस-दस कोस तक भँढारे का हल्ला हो गया। साधु सन्तों को विधिवत् भोजन कराया गया। एक-एक सुवर्ण-मुद्रा उन्हें दक्षिणा रूप में दी गई। जो दक्षिणा लें और जो चाहें सो लें। किसी की कमी नहीं थी, जो चाहो आओ खाओ जितना चाहो बाँधकर लेते जाओ। खुला भण्डारा था सैकड़ों पंक्तियाँ लगी हैं, लक्षों पुरुष भोजन कर रहे हैं। प्रातः काल से जो लग्गा लगा रात्रि के बारह बजे तक कोई संख्या नहीं कितने लोगों ने भोजन किया, सुवर्ण मुद्रायें बाँटी गईं। रात्रि पर्यन्त उस बच्चे ने जल की एक बूँद भी जिह्वा पर नहीं रखी स्वयं परोस-परोस कर सबको खिलाता रहा। महात्माओं का सत्कार करता रहा। महात्माजी भी उसे देखते, उसके शान्त स्वभाव और उदारता की भूरि-भूरि प्रशंसा करते। इतना अनवद्य सौंदर्य इतनी अटूट धन सम्पत्ति तिस पर इतनी उदारता, इतनी सहन शीलता, इतनी धर्मनिष्ठा, इतनी सरलता साधारण जीव में नहीं हो सकती। कोई अवतारी पुरुष है अथवा योगभ्रष्ट महात्मा है। पवित्र शुद्धाचरण धनिकों के घर योगभ्रष्ट महात्मा ही तो जन्म लेते हैं।

वणिक कुमार के मुख पर ही उसकी सब प्रशंसा करते। अपनी प्रशंसा सुनकर वह लज्जित हो जाता सिर नीचा कर लेता,

कुछ भी उत्तर न देता हाथ जोड़े हुए और भी अधिक सिकुड़ जाता।

जब खा पी चुके अर्ध रात्रि हो गई तब माता-पिता ने आग्रह किया—"बेटा तू भी कुछ खा ले। देख, तुझे तो व्रत उपवास का अभ्यास है, यह दूसरे घर की लड़की आई है, कैसी फूल के समान सुकुमार है इसे ऐसा अवसर काहे को आया होगा। देख कैसा इसका मुख कुम्हिला गया है, तेरे बिना इसने भी अभी तक पानी नहीं पिया है। अब तो सब खा पी चुके। बड़ा अच्छा हो गया।"

यह सुनकर उस श्रेष्ठिकुमार ने सिर पकड़ते हुए कहा—"मेरे सिर में बड़े जोर की पीड़ा हो रही है। मुझे कुछ खाने-पीने की इच्छा नहीं।"

इतना सुनते ही माता-पिता का हृदय धड़कने लगा बात को टालते हुए पिता बोला—"हम तुझे बार-बार मना करते थे, इतना परिश्रम मत कर, इतना परिश्रम मत कर। तू माना ही नहीं। दिन भर तितली की तरह नाचता तो रहा है। सरदी लग गई है, कुछ खाया पीया भी नहीं। भोजन कर ले, अग्नि से सेक ले, तैल मर्दन कराले सब ठीक हो जायगा।"

इस पर बच्चे ने कहा—"नहीं, मेरा चित्त अत्यन्त व्याकुल हो रहा है, मैं कुछ न खाऊँगा, न पीऊँगा, मुझे चुपचाप पड़ा रहने दो। मुझसे कोई बोलो चालो नहीं।" इतना कहकर वह बालक समीप के ही तख्त पर लेट गया।

अब क्या था, मेले भर में हा हा कार मच गया। वैद्य पर वैद्य आने लगे। चिकित्सकों का जमघट होने लगा बड़े-बड़े तन्त्र, मन्त्र जानने वाले आने लगे। कोई कहता सेठजी आप चिन्ता न करें हम अभी अच्छा करते हैं। कोई झाड़-फूँक बताते, कोई

मंत्र टोना करते, कोई लेप बताते, कोई गुटिका देते। बच्चे की दशा प्रतिक्षण शोचनीय होती जाती।

इतने में ही एक बड़े अनुभवी निर्लोभी चिकित्सक बुलाये गये। सेठजी ने उन्हें बहुत कुछ देना चाहा किन्तु उन्होंने कुछ भी स्वीकार नहीं किया, देख दाख कर बोले—"सेठजी, बुरा तो मानियेगा नहीं। अब जड़ी बूटी औषधि देना व्यर्थ है, अब तो भगवान् का नाम लीजिये राम-राम कीजिये, जो होना था सो हो गया।"

इतना सुनते ही सेठ सेठानी के ऊपर मानों वज्र गिर पड़ा हो। वे फूट-फूटकर बालकों की भाँति रुदन करने लगे। बहू ने लज्जा छोड़ दी उसने घूँघट खोल दिया और दोनों हाथों से अपनी छाती को पीटती हुई कहने लगी—"हाय! प्राणनाथ! मैंने तो अभी तुम्हें स्पर्श करने की बात अलग रही मुँह भर के देखा भी नहीं है। मुझे अधवर में कहाँ छोड़े जा रहे हो।"

अपने पिता-माता और पत्नी के ऐसे करुण क्रन्दन को सुनकर कुमार ने करवट बदला उसने आज्ञा के स्वर में कहा—"रोना धोना बन्द करो और यहाँ से नौकर चाकर सबको हटा दो। केवल तुम तीन ही रहो।"

बच्चे की ऐसी बात सुनकर उसकी आज्ञा का तुरन्त पालन किया गया। सब लोग वहाँ से चले गये। सम्मुख प्रकाश हो रहा था। वह धर्मात्मा वणिककुमार उठकर अपने आसन पर बैठ गया और अत्यन्त गम्भीर स्वर में बोला—"तुम लोग मुझे जानते हो, मैं कौन हूँ ? बोलो।"

दोनों सेठ और सेठानी एक स्वर में बोल उठे—"हाय! मेरे लाल! हाय हमारे जीवन सर्वस्व! तू कैसी बात कह रहा है, तू हम अन्धों की एकमात्र लकड़ी है, तू हमारे घर का दीपक है, हमारे जीवन का सहारा है।"

दृढ़ता के स्वर में उस कुमार ने कहा—"देखो, रोने धोने का काम नहीं। बात को समझो। कौन किसका पुत्र, कौन किसका पिता। सभी संस्कारों के अधीन होकर अपना बदला लेने अपना ऋण चुकाने के लिये सम्बन्धी के रूप में उत्पन्न होते हैं। तुम स्मरण करो, मैं वही साधु हूँ, जिसकी १५० सुवर्ण मुद्रायें तुमने चुराईं थीं। यद्यपि मुझे जन्म लेनेकी कोई आवश्यकता नहीं थी। किन्तु भण्डारा करने की मेरी वासना प्रबल थी, तुमने उसे पूरी नहीं होने दिया। इसलिये तुम्हारे घर पुत्र होकर मैंने उस वासना को पूर्ण किया। तुमने १५० मुद्रायें ली थीं। उसके बदले में मैंने हजारों गुना तुम्हारा व्यय करा दिया। तुम्हें जो इतना दान पुण्य का, साधु समागम, तथा तीर्थ व्रत का संयोग प्राप्त हुआ है, यह साधु सेवा का फल है और तुम्हें अब जो पुत्र वियोग का महान क्लेश हो रहा है, यह तुम्हारी चोरी का फल है। मनुष्य जैसा करता है वैसा भरता है। (फिर अपनी स्त्री की ओर संकेत करके कहने लगा) यह पूर्वजन्म में मथुरा में एक कुम्भकार की लड़की थी यह मेरे रूप पर आसक्त थी। मुझ साधु में इसकी यह काम भाव से चाह थी। यद्यपि मेरा इससे कोई सम्बन्ध नहीं हुआ। किन्तु इसका भाव दूषित था। सदा यह मेरे रूप का ही चिन्तन करती रहती। साधु के रूप में चिन्तन का तो यह फल हुआ, कि यह इतने श्रीमान् के घर में उत्पन्न होकर इतने धन वैभव में अत्यन्त सुख से पाली पोसी गई और इतना अधिक सौंदर्य प्राप्त किया। किन्तु कामवासना से चिन्ता करने से इसे इस जन्म में वैधव्य का दुःख उठाना पड़ेगा। यदि इसने इस जन्म में अपने धर्म की रक्षा करते हुए अपने जीवन को शुद्धता से बिता दिया, तो इसकी सद्गति हो जायगी। यदि इस जन्म में यह पाप कर्मों में प्रवृत्त हो गई, धर्म भ्रष्ट हो गई तो नरक में यातनायें

सहनी पड़ेंगी। अनेकों जन्मों तक वैधव्य जन्य दुःख उठाना पड़ेगा। मेरा न पहिले जन्म में इससे शरीर सम्बन्ध था न इस जन्म में रहा। मरते समय मेरे रूप का ही स्मरण रहा, इसीलिये इसे फिर मेरा क्षणिक संग हुआ। जैसा तुम लोगों ने किया वैसा उसका फल भोग लो। मैं तो अब जाता हूँ। इतना कहते-कहते उसने नेत्र बन्द कर लिये। उसी समय उसका ब्रह्मांड फट गया और उसका प्राण शरीर से पृथक् हो गया।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! पूर्वजन्मों के संस्कार सम्बन्ध स्थापित करा देते हैं। नहीं तो अजामिल ने एक-से-एक सुन्दरी स्त्रियों को देखा था उनके ऊपर उसका मन नहीं गया। इसे देखते ही वह अपनेपन को भूल गया। इसमें कारण हैं, इस स्त्री से उसका पूर्वजन्म में सम्बन्ध था।"

यह सुनकर बड़ी उत्सुकता के साथ शौनकजी ने पूछा—"महाभाग! इस स्त्री के साथ अजामिल का पूर्वजन्म में क्या सम्बन्ध था। पूर्वजन्म में यह स्त्री कौन थी। अजामिल कौन था और किस कारण इनका सम्बन्ध हुआ इन सब बातों को सुनाकर हमारे कुतूहल को शान्त कीजिये।"

शौनकजी की ऐसी बात सुनकर सूतजी गम्भीरता के साथ बोले—"मुनियो! मैं अजामिल के पूर्वजन्म का वृत्तान्त सुनाता हूँ, उसे आप सब दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

कोई सब दिन संग रहे परिचय नहिँ होवै।
निरखि काहूकूँ कोउ तुरत अपनोपन खोवै॥
होहिँ सहोदर बन्धु परस्पर प्रेम न तिनमें।
मित्र जाति के होहिँ होइ मैत्री छिन भरमें॥
पूर्वजन्म अपकारकार, इह तनु होवे शत्रुता।
कर्यो जासु उपकार कछु, ताते होवे मित्रता॥

अजामिल के पूर्वजन्म का वृत्तान्त

[३५५]

एष प्रकृतिसंगेन पुरुषस्य विपर्ययः।
आसीत् स एव नचिरादीशसङ्गात् विलीयते ॥*

(श्री भा० ६ स्क० १ अ० ५५ श्लोक)

छप्पय

पूर्वजन्म में रह्यो अजामिल परम तपस्वी।
सदाचार सम्पन्न सत्यप्रिय परम यशस्वी॥
शिशिर माँहि अति शीत लग्यो मुरछा सी आई।
तहाँ वैद्य ने अपर बिप्रकूँ युक्ति बताई॥
यौवन की यदि उष्णता, युवती तन तें तन लगे।
जब होवै जिहि शीतपन, तुरत तपस्वी तब जगे॥

पतन का कारण है अहङ्कार। जब मनुष्य अपने को सब से श्रेष्ठ तथा दूसरों को तुच्छ समझने लगता है, अकारण दूसरों का अपमान करने लगता है, तभी उसका पतन होता है। सर्व-श्रेष्ठ तो श्रीहरि ही हैं उन्हें बुलाकर जो उनके आसन पर स्वयं बैठना चाहता है उस अविवेकी का अधःपतन अनिवार्य ही

---

* श्रीशुक कहते हैं—"प्रकृति के संसर्ग होने से जो पुरुष की विपरीत भावना हो जाती है। यह भगवान् के भजन से भगवान् और उनके नाम में आसक्ति होने से अतिशीघ्र विलीन भी हो जाती है।"

है। इसीलिये शास्त्रकारों ने इस बात को घुमा फिरा कर अनेकों प्रकार से कहा है, कि हरि ही इस जगत् में सर्व व्याप्त हो रहे हैं, अतः किसी प्राणी का अपमान करना श्रीहरि का ही अपमान करना है, अपने आप को ही नीचा दिखाना है, अपने पैरों में स्वयं कुल्हाड़ी मारना है, क्योंकि जो आत्मा हमारे में हैं वही सर्वत्र है। पृथकता इस पापी अहङ्कार ने कर रखी है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपने मुझ से अजामिल के पूर्वजन्म का वृत्त पूछा था, उसे आप सब एकाग्रचित्त से श्रवण करें। पूर्वकाल में उत्तराखण्ड में एक तपस्वी रहते थे। वे पर्वत पर रहकर घोर तपस्या किया करते थे। अरण्य से कच्चे पक्के जैसे फल मूल मिल जाते, स्वयं जाकर उन्हें लाते। उन्हीं का आहार करते। कभी दो-दो दिन उपवास करते और तीसरे दिन भोजन करते। कभी चार-चार दिन का उपवास करते और पाँचवें दिन भोजन करते। कभी महीने भर चान्द्रायण व्रत करते, कभी जवचान्द्रायण, कभी पिपीलिका चन्द्रायण, कभी समचान्द्रायण और कभी कृच्छ्र अति कृच्छ्र व्रत करते। इस प्रकार तपस्या करते हुए वे अपना काल यापन करने लगे। उनकी युवावस्था थी, शरीर से सुन्दर सुडौल थे,। तपस्या की आभा उनके मुख मण्डल पर प्रत्यक्ष दिखायी देती थी। जाड़े के दिनों में पर्वतों पर हिम के कारण नदियों का जल अत्यन्त ही शीतल हो जाता है। बहुत-सी नदियों का जल तो जमकर हिम ही हो जाता है। वे तपस्वी मुनि पौष माघ के जाड़े में तितिक्षा बढ़ाने के निमित्त नदी के ठंडे जल में बैठे रहते। इससे उनकी बड़ी प्रशंसा हो गई, सब उन्हें आदर और श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगे। उन्हें भी अपनी तपस्या का अभिमान हो गया। मुनियो! दूसरे प्रशंसा करें, दूसरे लोग बड़ा कहें यहाँ तक तो ठीक है किन्तु स्वयं भी जब उस प्रशंसा को अपने में अनुभव करने लगे। अभिमान में

भरकर अपने को सब कुछ समझने लगे, बड़े लोगों का अपमान करने लगे यही पतन के चिन्ह हैं। महाराज ! इस तितिक्षा की ता ऐसी दशा है आज शरीर तितिक्षा को सहन करता है, कल यही वृद्ध हो गया असमर्थ हो गया, रोगी हो गया, तो फिर सहनशीलता नष्ट हो जाती है। वे तपस्वी अब कुछ शिथिल से होने लगे। इतनी घोर तपस्या का प्रभाव इस पञ्चभूतों से निर्मित देह पर पड़ना स्वाभाविक ही है। अब उनको शीत सहन करने में कष्ट होने लगा। किन्तु प्रशंसा के लिये मनुष्य हठ भी करता है, उन तपस्वी ने अपनी चर्या बदली नहीं।"

एक दिन अत्यन्त ठंडी थी। नदी का नीर अत्यंत ही शीतल था। तपस्वी को सरदी लग गई वह अचेत हो गया और मृतक के समान नदी तट पर जाड़े से ठिठुरा हुआ पड़ा था।

इतने में ही एक मुनि अपनी युवती षोडशवर्षीय कन्या के सहित जल लेने आये। उन्होंने जब तपस्वी को इस अचेतावस्था में देखा तो उन्हें दया आ गई। वहाँ अग्नि थी नहीं, वे कुछ निर्णय न कर सके क्या करें। इसी समय एक दूसरे मुनि भी आ गये, जो चिकित्सा आदि भी जानते थे। उन्होंने तपस्वी को देखकर कहा, इन्हें अत्यन्त शीत व्याप्त हो गया है। शीघ्र ही उपचार न होगा तो इनका शरीरान्त हो जायगा। प्राणियों के शरीर में उष्णता होती है, उसी से वे जीते हैं। युवावस्था में मनुष्यों के शरीर में ऊष्मा अधिक बढ़ जाती है, इसीलिये युवावस्था का रक्त अत्यधिक उष्ण होता है। पुरुषों की अपेक्षा युवावस्था में स्त्रियों के शरीर में ऊष्मा अधिक होती है। इनके जीवित करने के दो ही उपाय हैं, या तो इन्हें तुरन्त बन्द घर में रखकर रुई से सम्पूर्ण शरीर सेका जाय या रुई आदि वस्त्रों में लपेटकर किसी युवती की शरीर की गरमी पहुँचायी जाय।

उन मुनि ने अपनी पुत्री से कहा--"बेटी! तुम इन्हें अपने वस्त्रों में छिपा लो ऊपर हम ये वस्त्र डाल देंगे, गरमी आ जायगी तपस्वी को चेतना आ जायगी।"

परोपकार की दृष्टि से उस बच्ची ने ऐसा ही किया। शरीर की गरमी से तपस्वी को चैतन्यता प्राप्त हुई। चैतन्यता प्राप्त होते ही और अपने समीप एक युवती स्त्री को देखकर तपस्वी को बड़ा क्रोध आया। उसने बिना कुछ पूछ ताछ किये तपस्या के अभिमान में भरकर उस युवती को शाप दिया—"दुष्टे! तैंने मुझ तपस्वी से अंगस्पर्श करके मेरे धर्म को भ्रष्ट कर दिया है, अतः जा तू दूसरे जन्म में वेश्या हो जा।"

इस पर उस मुनिकन्या को भी क्रोध आ गया। क्रोध की बात ही थी। उसने भी रोष में आकर कहा—"तुम्हें अपनी तपस्या का अभिमान है, उस अभिमान में भरकर ही, तुम मुझ निरपराधिनी का इसीलिये अपमान कर रहे हो, कि मैं स्त्री हूँ। जाओ अगले जन्म में तुम तपस्वी होने पर भी स्त्री के लिये व्याकुल रहोगे और मुझ वेश्या के रूप लावण्य पर ही मुग्ध हो कर तुम अपने सब धर्म कर्म को खो दोगे।"

मुनियो! इस प्रकार क्रोध में भर दोनों में ही शापाशापी हो गई। कालान्तर में दोनों के ही शरीर का अन्त हुआ। वह तपस्वी तो अजामिल ब्राह्मण हुआ और वह मुनिकन्या ही अत्यन्त रूप लावण्यवती यह वेश्या हुई, जिसके पीछे अजामिल ने अपनी सती साध्वी कुलघ्नी पत्नी का तथा पिता-माता का परित्याग कर दिया। इस वेश्या को देखते ही पूर्व संस्कारों के वशीभूत होकर भवितव्यता के प्रभाव से अजामिल उसके ऊपर लट्टू हो गया और उसे अपनाकर ही उसने विश्राम लिया। यह मैंने आपसे अजामिल के पूर्वजन्म का वृत्तान्त सुनाया। अब बताइये और क्या कहूँ।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! अजामिल को तो उसके अभिमान का फल मिलना उचित ही था, किन्तु उस मुनि कन्या का क्या अपराध था उसने तो अपने पिता की आज्ञा से दयावश ऐसा किया था। उसे वेश्या होने का शाप व्यर्थ ही मिला।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाभाग! व्यर्थ तो कोई काम होता ही नहीं यह दूसरी बात है कि हम उसकी सार्थकता समझ न सकें। उस मुनिकन्या का उन तपस्वी के प्रति स्वाभाविक अनुराग था। और अंग संग से आसक्ति का हो जाना, मन में विकार उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक ही है। अतः स्त्रियों को भूल कर भी परपुरुष का स्पर्श आलिंगन न करना चाहिये।"

प्रारब्धवश शाप के प्रभाव से अजामिल की ऐसी दशा हो गई, कि उस वेश्या के पीछे वह अपना सब धर्म-कर्म भूल गया। जाति का तो वह ब्राह्मण था, किन्तु कर्म राक्षसों के से करने लगा। चोरी, जारी हिंसा कोई भी काम उससे नहीं छूटा। नौ लड़के हो गये थे, जो बड़े-बड़े हो गये थे। अबके फिर उस स्त्री ने गर्भ धारण किया। यह गर्भ क्या था, उसके उद्धार का प्रारब्ध पुत्र बनकर गर्भ में आया था। प्रतीत होता है उसके शाप की अवधि समाप्त होने वाली थी। भगवान् की आराधना सदाचार का पालन, और तपस्या का फल व्यर्थ तो जाता नहीं कभी-न-कभी इनके फल का भी समय आता है। पता नहीं, कब किसके कौन से पुण्य का उदय हो जाय। कब किसके ऊपर श्रीहरि ढुल जायँ, कब किसका किस कार्य से उद्धार हो जाय, इसे काल स्वरूप कृष्ण के अतिरिक्त कोई यथार्थ रूप से जान नहीं सकता। जब संसार चक्र में घूमते-घूमते मनुष्य के कर्म बन्धनों के छिन्न-भिन्न होने का समय आ जाता है, तो उसे साधु का संग प्राप्त होता है। उसे स्वयं साधुओं को खोजना नहीं

पड़ता । स्वयं ही साधु कृपा करके उसे दर्शन देते हैं जहाँ साधु के दर्शन हुए, उनके मन में इसके उद्धार की इच्छा उत्पन्न हुई उनके मन में इसके लिये स्थान हुआ ही नहीं कि बेड़ा पार है, फिर यह संसार बन्धन में रहता ही नहीं । जीव इस माया के जाल से सदा के लिये मुक्त हो जाता है । मुनियो ! अजामिल के भी उद्धार का अवसर आ गया । उसे भी सुनिये ।"

छप्पय

मुनि तनया कूँ दया तपस्वी पै अति आई ।
अंगनि लयो लगाय उष्णता तन पहुँचाई ॥
चेतनता जब भई क्रोध तपसी कूँ आयो ।
बनि वेश्या तू नारि धर्म ते मोइ डिगायो ॥
मुनि कन्या हू ने दयो, शाप अधम तू बनेगो ।
धर्म कर्म सब छोड़कें, मो वेश्या सँग फिरेगो ॥

अजामिल की नारायण पुत्र में आसक्ति

[३५६]

तस्य प्रवयसः पुत्रा दश तेषां तु योऽवमः ।
बालो नारायणो नाम्ना पित्रोश्च दयितो भृशम् ।।*
(श्रीभा० ६ स्क० १ अ० २४ श्लोक)

छप्पय

शाप भये सब सत्य अजामिल दुष्ट भयो अति ।
निरदय डाकू क्रूर करे पथिकनि की दुरगति ।।
भ्रमत भाग्यवश सन्त एक दिन घर पै आये ।
कीयो अति सतकार आपने पाप सुनाये ।।
सन्त हृदय करुणा उठी, बोले—करिवे काम तू ।
धरियो अब के पुत्र को, नारायण शुभ नाम तू ।।

वाणी का बड़ा महत्व है शुभ वाणी से ही स्नेह बढ़ता है, अशुभ क्रूर वचनों से ही वैरभाव हो जाता है। नाम के साथ ही उसका भाव रहता है, वाणी के संग ही उसका अभिप्राय चलता है। तभी तो वाणो के निग्रह पर शास्त्रकारों ने अत्यधिक बल दिया

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! उस बूढ़े अजामिल के दस पुत्र थे, उनमें जो सबसे छोटा था उसका नाम नारायण था। पिता का अत्यन्त ही प्यारा था। दोनों का अत्यधिक अनुराग था।"

हैं। किसी ने हमें माता की, बहिन की, बेटी की गाली दी। वहाँ हमारी न माता है, न बहिन है, न वेटी है। जैसे और शब्द हैं वैसे ही गाली हैं किन्तु देने वाले का हम अभिप्राय शब्दों द्वारा समझते हैं। उसने हमें अपमानित करने को, हमें नीचा दिखाने को गाली दी है। हम उससे लड़ जाते हैं। स्वयं मर जाते हैं। या उसे मार डालते हैं। कोई ऐसी बात तो थी नहीं, उसने हमारे साथ कोई शारीरिक अन्याय तो किया नहीं। आकाश में शब्द हुआ विलीन हो गया, किन्तु उस अशुभ शब्द का हमारे अन्तःकरण पर अशुभ प्रभाव पड़ा। अनजान में भी किसी को गाली दे देते हैं, तो वह लड़ पड़ता। इसी प्रकार शुभ शब्दों के उच्चारण का भी बड़ा प्रभाव होता है। तुम जान में अनजान में कैसे भी शुभ शब्दों का उच्चारण करो तुम्हारा अन्तःकरण पवित्र होगा, तुम सबके प्रिय बन जाओगे। इसीलिये शास्त्रकार बार-बार कहते हैं वाणी से भूलकर भी कभी अशुभ शब्द उच्चारण न करो। जो बोलो शुभ बोलो, भगवान् के नामों का ही उच्चारण करो क्योंकि वे ही सबसे शुभ नाम हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! उस वेश्या के संग रहते-रहते अजामिल बूढ़ा हो गया। नौ लड़के हो गये फिर भी वह वेश्या गर्भवती हुई अजामिल का नित्य का यही काम था, भोजन करके मध्यान्होत्तर घोर वन में चला जाता, वहाँ जाकर पशु-पक्षियों को मारता, पथिकों को लूटता और रात्रि में घर आता, मांस खाता, शराब पीता और स्त्री बच्चों के सहित आनन्द-विहार करता। इसी बीच में एक ऐसी घटना घट गई कि उसके जीवन में एक नई लहर आ गई।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! वह कौन-सी घटना घटी। कृपा करके उसे भी हमें सुनाइये।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाभाग! सुनिये, एक दिन

अजामिल अपने नित्य नियम के अनुसार जङ्गल में गया था। उसी समय उस नगर में साधुओं की एक मंडली आ गई। महाराज! आप जानते ही हैं जैसे जुआड़ी जहाँ जाते हैं, वहाँ जाते ही जुआड़ियों की खोज करते हैं, वैसे ही सन्त जिस ग्राम में, जिस नगर में पहुँचते हैं, वहाँ जाते ही लोगों से पूछते हैं—"इस ग्राम में कोई साधुसेवी भक्त है। जिसके यहाँ भली प्रकार छने घुटे।"

उस संत मंडली में से किसी एक सन्त ने किसी सफेद कपड़े वाले आदमी से पूछा—"क्योंजी, इस नगर में कोई साधुसेवी धर्मात्मा भक्त है, जिसके यहाँ भगवान् का प्रसाद बन सके।"

उन विचारे सरल चित्त संत को क्या पता था, कि इन बड़े-बड़े नगरों में अधिकांश सफेद वस्त्रों वाले लोगों के मन मलिन होते हैं, वे साधु सन्त का नाम सुनते ही जल-भुनकर भस्म हो जाते हैं। साधु को क्लेश देने में ही उन्हें आनंद आता है। साधु के प्रश्न को सुनकर वह मलिन मति पुरुष मन-ही-मन कुढ़ गया, वहाँ समीप ही अजामिल का घर था। सामने बड़ा चबूतरा था उस पर पीपर, पाकर के कई घने-घने वृक्ष थे उस दुष्ट ने अपने भाव को छिपाते हुए बड़ी गम्भीरता के साथ कहा—"साधु महाराज! इस नगर में तो यह अजामिल नाम का ब्राह्मण बड़ा भक्त है, इसके यहाँ आप जाइये वहाँ आपका यथेष्ट सत्कार होगा, बड़े माल मिलेंगे खाने को।"

साधु तो सरल होते ही हैं अजामिल के द्वार पर पहुँच गये। साधुओं का कोलाहल सुनकर अजामिल के ८–९ बच्चे एक साथ घर से निकल आये। उन सुन्दर-सुन्दर बच्चों को देखकर एक संत ने पूछा—"अजामिल भक्त का यही घर है?" बड़े लड़के ने सिर हिला दिया। साधुओं ने झोली डंडे रख दिये। आसन खुलने लगे। महन्तजी का छाता गड़ गया, उसके नीचे उनका ऊँचा

आसन बिछ गया। भगवान् की पूजा सेवा की व्यवस्था होने लगी।

लड़कों के लिये खेल हो गया, उन्होंने दौड़कर अपनी माँ से कहा—"अम्मा! अम्मा! हमारे चबूतरे पर बड़े-बड़े जटाधारी लटाधारी लम्बे-लम्बे तिलकों वाले बहुत से साधु आये हैं। वे बाबूजी का नाम लेकर पूछ रहे हैं अजामिल 'भक्त' का घर यही है। वेश्या समझ गई किसी दुष्ट ने साधुओं के साथ हँसी की है। नहीं हमारे ऐसे भाग्य कहाँ हमारे द्वार पर सन्त आवें। अब क्या करूँ। उसने आँखों में आँसू भरकर अपने बच्चों से पुचकारते हुए कहा—"देखो, बेटा! तुम सब जाओ, सब महात्माओं के पैर छूओ और हाथ जोड़कर कहना—"महाराज! आप बैठें। बाबूजी बाहर गये हैं। वे आवेंगे तो आपका सत्कार करेंगे।"

लड़कों ने आज तक किसी के पैर छूए हों तो जानें। माँ ने तुरन्त वहीं लड़कों को पैर छूना सिखाया। लड़के देखने में बड़े सुकुमार सुन्दर लगते थे। क्योंकि उनके माता-पिता दोनों ही सुन्दर थे। बड़ा लड़का अपने सभी भाइयों को लेकर साधुओं के पास गया। वह बुद्धिमान् था, जैसे पैर छूता उसी का अनुकरण और भी उसके भाई करते। साधुओं का स्वभाव है, उन्हें चाहे कोई और कुछ न दे केवल उनके पैर छू ले तो वे प्रसन्न हो जाते हैं। छोटे-छोटे सुन्दर सुकुमार झुण्ड-के-झुण्ड लड़कों को पैर छूते देखकर गद्गद हो गये, आपस में कहने लगे—"भैया, बड़े सुशील लड़के हैं। भक्तों के लड़के ऐसे ही होते हैं। सबने बच्चों को महन्तजी के पास भेज दिया। बच्चों ने उनके पैर छूकर जैसा उनकी माता ने उन्हें सिखाया पढ़ाया था' वैसा ही कह दिया—"बाबूजी बाहर गये हैं, वे लौटकर आवेंगे तो आपका सत्कार करेंगे।"

पुचकार कर महन्तजी ने कहा—"अच्छी बात है बेटा! कोई बात नहीं। अपनी माँ से कह देना हम यहाँ बड़े आनन्द में हैं कोई चिन्ता की बात नहीं।" बच्चे यह सुनकर चले गये।

आज अजामिल के द्वार पर साधुओं की भीड़ देखकर जो भी उधर से निकलता, वहीं अवाक् रह जाता। यह आज नई बात कैसे हो रही है। किन्तु कोई मारे संकोच के कुछ कहता नहीं। इतनी ही देर में अजामिल भी लौट आया। अपने यहाँ साधु मण्डली को देखकर वह तो हक्का-बक्का-सा रह गया। उसने वस्त्र से मरे पशु पक्षियों को छिपाया। शीघ्रता से घर में घुस गया। जाते ही उसने भयभीत की भाँति पूछा—"आज यह अपने चबूतरे पर क्या लीला हो रही है?"

स्त्री ने हड़बड़ाहट के साथ कहा—"मेरी भी समझ में कुछ नहीं आया। आपके नाम के साथ भगत लगाकर ये पूछते हुए महात्मा आये हैं। मालूम होता है, किसी दुष्ट ने इन्हें बहका दिया है। आप शीघ्रता से जायँ, साधुओं के साथ कपट करना ठीक नहीं, उनको भ्रम में रखने से अपना अनिष्ट ही अनिष्ट है। आप उन्हें अपनी यथार्थ स्थिति बता दें और उनसे क्षमा याचना करें।"

अजामिल ने शीघ्रता से हाथ पैर धोये। कपड़े बदले वह हाथ जोड़े हुए बाहर आये। दो चार लड़के भी कुतूहल वश उसके साथ हो लिए। जाते ही उसने महन्तजी के पैर छुए। बच्चों के साथ उस बूढ़े को देखकर महन्तजी खिल उठे और बड़े प्रेम से बोले—"आओ, आओ, भगतजी! तुम्हारा ही नाम अजामिल भक्त है।"

हाथ जोड़े हुए अत्यन्त ही लज्जा के साथ अजामिल ने कहा—"भगवन! काहे का भगत हूँ मैं तो अत्यन्त नीच पापी दुष्ट हूँ किसी ने आप को बहका दिया है।"

महन्तजी ने कहा—"भैया, भक्तों का यह स्वभाव ही होता है, वे अपने को सबसे नीच ही बताते हैं। तुम्हारी तो हमने बड़ी प्रशंसा सुनी है।"

अत्यन्त ही लज्जा के साथ अजामिल ने कहा—"प्रभो, वह बात नहीं, मैं तो यथार्थ में पापी हूँ। मेरा जन्म तो ब्राह्मण वंश में अवश्य हुआ था, किन्तु मैं ब्राह्मणपने के कर्म से सर्वथा हीन हूँ। मैं वेश्या का पति हूँ, हिंसक हूँ, डाका डालकर, लोगों को मारकर लूट पाट करके अपनी आजीविका चलाता हूँ। औरों से छिपा भी सकता हूँ, महात्माओं से क्या छिपाना। छिपाना चाहूँ भी तो वे त्रिकालज्ञ होते हैं, समझते हैं।"

अब महात्मा सब रहस्य समझ गये, किसी ने हँसी की है। उन्होंने सोचा - "श्रीमन्नारायण प्रभु की जैसी इच्छा।" उनकी इच्छा के बिना कोई कार्य होता नहीं, इसमें भी उनकी कुछ-न-कुछ लीला है, भगवान् का सिंहासन लग चुका है, पूजा की सब तैयारियाँ हो गयीं हैं, अब रात्रि में जाना भी कहाँ—

"सबे भूमि गोपाल की जामें अटक कहाँ।
जाके मन में अटक है, सोई अटक रहा॥"

महात्मा बोले—"अच्छा भैया! अब तक भक्त नहीं था, तो अब भगवान् की कृपा से हो जायगा।"

महात्मा के मुख से ऐसे वचन सुनकर उसे बड़ा हर्ष हुआ। उसने अत्यन्त ही प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"प्रभो! आज्ञा हो तो, भगवान् की प्रसादी के लिये कुछ फल मूल सीधा सामान ले आऊँ।" महात्मा कुछ देर सोचकर बोले—"अच्छा भैया! जैसी तेरी श्रद्धा।" अजामिल को तो मानों निधि मिल गई। उसके अन्न को आज सन्त स्वीकार करेंगे। आज उसका अन्न भगवान् के काम आवेगा। इस विचार के आते ही उसके सम्पूर्ण शरीर में रोमाञ्च हो उठे। वह दौड़कर घर में चला गया

और अपनी स्त्री से बोला—"लो, आज हमारे भी भाग्य खुल गये। संत पतितों की सेवा भी स्वीकार करेंगे।"

इधर अजामिल के चले जाने पर कुछ संन्तों ने महात्माजी से कहा—"भगवन्! आपने ऐसे नीच वेश्यापति हिंसक दुराचारी का अन्न ग्रहण करना क्यों स्वीकार कर लिया? शास्त्रों में तो ऐसे पुरुषों का अन्न अत्यन्त ही दूषित और त्याज्य बताया है।"

इस पर गंभीरता के साथ वे वृद्ध आचार्य बोले—"देखो, भाई! शास्त्रों का सामान्य वचन तो ऐसा ही है। वृषलीपति, शूद्र का, हिंसक का, पापी का, व्याज खाने वाले का, वेश्या का, वैद्य का, पातकी उप पातकी आदि पुरुषों का अन्न न खाना चाहिए। विशेष वचन ऐसे भी मिलते हैं कि अत्यन्त श्रद्धा से फल मूल, कच्चा सीधा सामान जो भी लाकर दे, उसकी श्रद्धा की विशेषता से उसे ग्रहण कर लेने में कोई दोष नहीं। किन्हीं किन्हीं आचार्यों का मत है, कोई कुलीन ब्राह्मण है और अश्रद्धा से अन्न देता है, दूसरा व्याज खाने वाला हिंसक है वह अत्यन्त श्रद्धा से लाकर देता है, तो दोनों का अन्न बराबर माना जाता है, उसकी कुलीनता और वर्ण की श्रेष्ठता से शुद्ध तो है, किन्तु अश्रद्धा से देने के कारण हेय है, उसके विपरीत दूसरे की हिंसा और व्याज के कारण त्याज्य तो है, किन्तु श्रद्धा की विशेषता से ग्रहणीय है, किन्तु दूसरे आचार्य कहते हैं—"नहीं, अश्रद्धा से दिये हुए श्रोत्रिय ब्राह्मण का अन्न अधम है, और अत्यन्त श्रद्धा से दिया हुआ उस अधर्मी का अन्न उत्तम है। उत्तमता और अधमता में श्रद्धा ही प्रधान कारण है। फिर भैया, सूखा अन्न है, शुद्धता से वनेगा, भगवान् का भोग लगेगा प्रभु के अर्पण होते ही वह तो अमृतोपम नैवेद्य बन जाता है, उसके सब दोष नष्ट हो जाते हैं। उसके घर पर प्रभु ने भेजा है, उसका

आतिथ्य ग्रहण न करना पाप है, अपराध है, उसके साथ अन्याय है, उसे मानसिक क्लेश पहुँचाना है, उसकी श्रद्धा पर कुठाराघात करना है।"

महन्तजी इस प्रकार बात कर ही रहे थे, कि इतने में ही बहुत-सा सूखा सामान लेकर अजामिल आ पहुँचा। आटा, दाल घृत, शाक, भाजी, कन्द मूल फलों का उसने ढेर लगा दिया। साधुओं ने बड़ी शुद्धता से भगवान् की रसोई तैयार की। अजामिल चुपचाप बैठा रहा।

आज साधुओं की संगति से उसे भी अपने पूर्व जीवन की स्मृति हो आयी। हाय! एक दिन मैं भी इतनी शुद्धता से रहता था। कहाँ से कहाँ पहुँच गया। उसने अत्यन्त दीनता से उन महात्मा से कहा—"भगवन्! मेरे भी उद्धार का कोई उपाय है? देखिये मुझसे भजन तो होगा नहीं। इस स्त्री को मैं छोड़ नहीं सकता। इसके साथ मुझे जीवन बिताना है, ये नौ बच्चे हैं मेरे ही वीर्य से उत्पन्न हुए हैं। इनका पालन पोषण भी मुझे जैसे बनेगा तैसे करना होगा। कोई ऐसा उपाय बतावें जिसे मैं कर सकूँ।"

महात्मा ने सोचा—"यह तो बड़ी टेढ़ी समस्या है। वेश्या को छोड़ना नहीं चाहता, बच्चों का पालन करना चाहता है। भजन करने को मना करता है। क्या उपाय बतावें। शरणागत का तिरस्कार भी नहीं किया जा सकता। इस प्रकार सोच समझ कर वे बोले—"अच्छा, कै बच्चे हैं तुम्हारे?"

उसने कहा—"महाराज! नौ बच्चे हैं।"

महात्मा ने कहा—"बस, समाप्ति है, कि और कुछ डौल डाल है?"

लजाते हुए अजामिल ने कहा—"हाँ, महाराज! और भी अब आज कल में ही होने वाला है।"

महात्मा सोचकर बोले—"तुम्हारे इन बच्चों का नाम क्या है ?"

अजामिल ने कहा—"महाराज ! नाम क्या है, पण्डित तो हमारी छाया भी छूना नहीं चाहते। इन बच्चों की माता ने ही इनके नाम रख लिये हैं। इस बड़े का नाम खिच्चू है। दूसरे का घिस्सू है, तीसरे का बिज्जू है। चौथे का रज्जू है, पाँचवें का सटकू है, छटे का लटकू है, सातवें का कड़ेरू है, आठवें का घुरई है, नौवें का बचऊ है।"

यह सुनकर महात्मा हँस पड़े और बोले—"अच्छे नाम रखे हैं तुम्हारी बहू ने। अब एक काम करना। अबके जो बच्चा हो, उसका नाम "नारायण" रख देना। देखो फिर क्या होता है, भगवान् को अपने नाम की लाज होगी तो कुछ-न-कुछ करेंगे ही।"

यह सुनते ही अजामिल बड़ा प्रसन्न हुआ। दौड़ा-दौड़ा घर में गया, अपनी स्त्री से बोला—"सुनती है, अबके जो तेरे बच्चा हो उसका नाम नारायण रखना। ऐसी संत भगवान् की आज्ञा है नारायण, नारायण कैसा मनोहर नाम है। भूल मत जाना अबके घुरुहू फुरुहू करके मत पुकारने लगना। पैदा होते ही नारायण नारायण कहकर बुलाना।"

स्त्री ने कहा—"अच्छी बात है, अब तक तो कोई नाम देने वाला था ही नहीं। हमारे मन में जो आया पुकारने लगे। अब संत भगवान् ने पैदा होने से पहिले नाम रख दिया है। अब के मैं ऐसा ही करूँगी।" दोनों को इससे बड़ी प्रसन्नता हुई। साधुओं की रसोई तैयार हुई, भगवान् का भोग लगा आरती का घण्टा बजते ही बच्चों के सहित अजामिल आरती में सम्मिलित हुआ। अजामिल की स्त्री भी सम्पूर्ण अङ्गों को वस्त्रों से ढककर

दूर खड़ी हो गई। दूर से भूमि में सिर टेक कर उसने संतों को प्रणाम किया। उस पर महात्मा की दयामयी दृष्टि पड़ गई।

भगवान् का भोग लगाने पर महात्माजी ने कहा—"अजामिल ! भैया, तुम कुछ भगवान् का प्रसाद बच्चों के लिये ले जाओ।"

हाथ जोड़कर अजामिल ने कहा—"भगवन् ! आप सब प्रसाद पा लें जो उच्छिष्ट बचेगा, उसके तो हम सब अधिकारी हैं ही।"

महात्माजी ने कहा—"अच्छी बात है भैया, होने दो हरी हर संतों की पंक्ति बैठी।"

अब क्या था अपने-अपने पात्र लेकर महात्मा बैठ गये और होने लगा—

श्रीहरि नारायण गोविन्दे भजो रामा कृष्णा गोविन्दे।
पुरी अयोध्या सरयूतीर जहाँ विराजे श्री रघुवीर
श्रीहरि नारायण गोविन्दे, भजरामा कृष्णा गोविन्दे।
गोविन्द-गोविन्द गाओगे, प्रेम पदारथ पाओगे
श्रीहरि नारायण गोविन्दे, भज रामा कृष्णा गोविन्दे।

सब पत्तलों पर सब प्रसाद पहुँच गया। तब जय जय कार बोले। चार धाम की जय, सातों पुरियों की जय, आदि अन्नदाता की जय, ऐसे बहुत जय-जय होने पर हरि हर हुआ। सबने प्रसाद पाया। अजामिल यह सब देखता रहा। भगवान् के सुमधुर नामों का कीर्तन सुनता रहा।

जब सब महात्मा प्रसाद पा चुके तो उसने सबसे प्रार्थना की कि कोई संत अपनी पत्तल न उठावें। उसकी दीनता को देखकर संतों के हृदय में दया आ गई। किसी ने पत्तल नहीं उठाई। सबके उठ जाने पर उसने सब पत्तलों को उठाया।

परोसने वाले और रसोई बनाने वाले संतों ने अपने योग्य प्रसाद रखकर शेष सभी उसे दे दिया। आज भगवान् का प्रसाद लेकर वह भीतर गया। घर भर ने आज पेट भर के भगवान् का प्रसाद पाया। ऐसे पदार्थ इन भाग्यहीन विषयी गृहस्थों के भाग्य में कहाँ हैं। ये पाप का पैसा पैदा करते हैं। बनाते समय बुरी-बुरी भावनायें करते हैं। बिना भगवान् का भोग लगाये बिना बलिवैश्वदेव किये रोटियाँ सिकती जाती हैं, चूल्हे चौका में बैठे ही खाते जाते हैं। उन्हीं जूठे हाथों से बर्तनों को छूते जाते हैं। वे भोजन क्या करते हैं, मानों मूर्तिमान् पापों को ही खाते हैं। मंजरी सहित हरी-हरी तुलसी के दलों से युक्त भगवान् का नैवैद्य पाकर सभी की अन्तरात्मा तृप्त हुई। बच्चों ने तो इतना खाया कि उनसे उठा नहीं गया। वहाँ के वहीं सो गये।

प्रातःकाल हुआ। संतों ने डंड कमण्डलु उठाये चलने की तैयारियाँ कर दीं। अजामिल उन्हें पहूँचाने दूर तक गया। जब संतों ने बहुत आग्रह किया, तो वह उन्हें प्रणाम करके लौट आया आज उसे ऐसा लगा मानों उसके कोई आत्मीय बिछुड़ गये हों।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह संसार बन्धन तभी तक है जब तक साधुओं के चरणों में प्रीति उत्पन्न नहीं होती। जहाँ सन्तों से प्रीति अनुराग हुआ कि यह संसार विलीन हो जाता है। इस क्षण भर के सङ्ग से ही पापी अजामिल का उद्धार हो गया।

कुछ ही काल में अजामिल की वेश्या भार्या ने दसवें पुत्र का प्रसव किया। पैदा होते ही अजामिल ने उसका नाम नारायण रख दिया। एक तो बुढ़ापे में जो सन्तान होती है, उसमें स्वाभाविक ही अधिक मोह होता है, दूसरे यह नियम है,

कि सबसे छोटी सन्तान पर माता-पिता का अत्यधिक अनुराग होता है। इस बच्चे की प्रतीक्षा भी बहुत रही। सन्तों ने ही इसका जन्म से पहिले नाम संस्कार कर दिया, अतः अजामिल का सम्पूर्ण प्रेम इस बच्चे में ही केन्द्रीभूत हो गया। जैसा प्रेम पहिले इस वेश्या में हुआ था वैसा ही इस नारायण पुत्र में हो गया। खाते-पीते उठते-बैठते वह उस नारायण को ही साथ रखने लगा।

छप्पय

मनमहँ निश्चय कर्यो अवसि जिह काम करुङ्गो।
अबके होवे पुत्र नरायन नाम धरुङ्गो॥
कुछ दिन महँ सुत भयो हर्ष चितमहँ अति छायो।
नारायण धरिनाम नेह अति अधिक बढ़ायो॥
सबरो प्रेम बटोरकें, नारायण महँ धार दयो।
भूल्यों सब जग के विषय, सुतमहँ तन्मय ह्वै गयो॥

पुत्र के मिस से नारायण नामका कीर्तन

[३५७]

स बद्धहृदयस्तस्मिन्नर्भके कलभाषिणि ।
निरीक्षमाणस्तल्लीलां मुमुदे जरठो भृशम् ॥
भुञ्जानः प्रपिबन् खादन् बालकस्नेहयन्त्रितः ।
भोजयन् पाययन्मूढो न वेदागतमन्तकम् ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० १ अ० २५, २६श्लोक)

छप्पय

लै नारायण नाम प्रेम तें मुखकूँ चूमें ।
गोदी में बैठाय, नारायण कहि कहि घूमें ॥
अपने पीछे खाय नरायन प्रथम खवावै ।
पीवे जो कछु पेय नरायन संग पिवावे ॥
नारायण कूँ संग लै, यों खावत पीवत चलत ।
नारायण भूलै नहीं, जागत हू सोवत उठत ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! अजामिल का हृदय मधुर तुतली वाणी बोलने वाले बालक के प्रेम में ऐसा आबद्ध हो गया, कि उसकी लीलाओं को देख-देखकर निरन्तर प्रमुदित हुआ करता था। खाते पीते भोजन करते वह उस बालक के स्नेह में ऐसा यन्त्रित हो गया, कि खाते समय उसे भी खिलाता, पीते समय उसे भी पिलाता। इस प्रकार मोहासक्त होने से वह अपनी सन्निकट आई हुई मृत्यु भी भूल गया।"

यह मन स्थिर नहीं होता, किसी एक वस्तु में टिकता नहीं भटकता रहता है। जैसे बच्चा सम्मुख रखी चमकीली वस्तु को ले दौड़ता है, उसे पाकर फिर दूसरी की इच्छा करता है। यह मन भी गिरगिट की भाँति रङ्ग बदलता है। बाल्यकाल में इसे माता से प्रेम होता है, माँ की गोद को छोड़कर कहीं जाता नहीं, वहीं सुख का अनुभव करता है, तनिक बड़ा हुआ तो सखा साथियों में खेल खिलौनों में प्रेम हो जाता है, दिन भर खेलने में ही उसे सुख मिलता है, खेल के पीछे भोजन विश्राम भी भूल जाता है। उससे भी कुछ बड़ा हुआ तो पुस्तकों में प्रेम हो जाता है, दीपक जलाकर रात्रि-रात्रि भर पढ़ता रहता है, घर वाले मना करते हैं, "इतना मत पढ़ा कर भैया स्वास्थ बिगड़ जायगा।" किन्तु वह किसी की सुनता ही नहीं। किशोरावस्था बीतने पर जहाँ युवावस्था ने पदार्पण किया कि आँखों में मद भर गया, अब तो कारे मूड़ वाली का जमूड़ा बन गया। वह जैसे नचाती है नाचता है। उठ रे जमूड़े, बैठ रे जमूड़े, सो रे जमूड़े, जो-जो वह कहती है, वही करता है, उसे आँखों से ओझल करने में कष्ट होता है। जहाँ बाल बच्चे हुए कि सब माया मोह उन्हीं में एकत्रित हो जाता है। शनैः-शनैः वृद्धावस्था पदार्पण करने लगती है। काले मुख पर सफेदी आने लगती है। नार हिलने लगती है, कि अब बहुत विषयों का सेवन कर लिया अब तो छोड़ो दाँत एक-एक करके नमस्कार करते हुए विदा होते जाते हैं। मुँह पोपला हो जाता है, आँखों की ज्योति घट जाती है, सभी इन्द्रियों की शक्ति क्षीण हो जाती है, किन्तु एक तृष्णा ही इस वृद्धावस्था में तरुणी हो जाती है अपेक्षाकृत अन्य लोगों के बूढ़ों में अधिक तृष्णा होती है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! अब उस बूढ़े अजामिल का सम्पूर्ण स्नेह उस नारायण पुत्र में आकर घनीभूत हो गया।

छोटा-सा बड़ा सुन्दर लड़का था। विशाल मस्तक पर लटकती हुई लटूरियों को हिलाता हुआ, जब वह किलकारियाँ भरता हुआ पिता की गोद में दौड़ता, तो अजामिल के रोम-रोम खिल जाते। उसे कसकर छाती से चिपटा लेता। बार-बार मुख चूमता और लोरियाँ देते हुए कहता—मेरा बेटा, नारायण-नारायण नारायण। मेरो मुनुआ नारायण नारायण नारायण नारायण जब भोजन करने बैठता, तब कहता—"आओ बेटा, नारायण मम्मा कर लो। एक ग्रास उसे खिलाता एक अपने खाता। पानी पीना होता तो कहता—"आओ बेटा नारायण! पप्पा पी लो। जब उसकी उँगली पकड़कर चलाना सिखाता तब कहता—'नारायण बेटा, पाँ-पाँ पैयाँ, गुरकी डालियाँ, नारायण की लेउँ बलैया।' जब सुलाता तो गोदी लेकर उसके बदन को थपथपाते हुए कहता—"मेरे नारायण को आजा री नींदरिया, काह्लि कटे तेरी मूड़रियाँ।" उठता तो पुकारता—नारायण नारायण बेटा, जाग गये और गोदी में आओ। अपनी स्त्री से कहता—"ओ सुनती नहीं है, नारायण का मुख धो दे, कुछ खाने को कलेवा दे दे।" इस प्रकार राजन्! उठते-बैठते सोते-जागते उसका निरन्तर नारायण नाम का कीर्तन होने लगा।"

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आप ये कैसी बातें कर रहे हैं? वह नारायण नाम का कहाँ कीर्तन करता था, वह तो अपने पुत्र नारायण का नाम लेता था। उसे आप नाम कीर्तन क्यों कहते हैं?"

सूतजी ने कहा—"महाभाग! कैसे भी सही, न सही भगवान् के उद्देश्य से, नाम लेता ही था। भगवान् का भी नाम तो नारायण है। एक स्थान पर दो आदमी रघुनन्दन नाम के हैं। कोई दूर से रघुनन्दन पुकारता है, तो चाहे जिस रघुनन्दन को बुलावे

दोनों के ही कान खड़े हो जायँगे। दोनों ही मुड़कर पुकारने वाले की ओर देखने लगेंगे।"

इस पर शौनकजी बोले—"सूतजी! यह तो भ्रम से होता है। भगवान् तो सर्वान्तर्यामी हैं, उन्हें तो भ्रम हो नहीं सकता। वे तो जानते थे इसका नारायण कहने से अभिप्राय मुझसे नहीं अपने पुत्र से है।"

सूतजी बोले—"भगवन्! भगवान् के सर्वान्तर्यामीपने में मैं भी सन्देह नहीं करता। मैं तो यहाँ नाम का माहात्म्य बता रहा हूँ। भगवान् के नाम में ऐसी शक्ति है कि उसे जान में अनजान में बहाने से, किसी के कहने से, अपने उद्देश्य से, दूसरे के उद्देश्य से, दुलार से, कैसे भी लें वह कल्याण ही करेगा। शास्त्रकारों का वचन है, भगवान् के नाम में भगवान् से भी अधिक शक्ति है। नाम स्वयं चैतन्यघन है, वह जड़ नहीं। अग्नि की चिनकारी को इस संकल्प से छप्पर में डालो कि इससे यह जल जाय तो भी छप्पर जल ही जायगा। यदि बिना संकल्प के कोई बच्चा ही भूल में भी जलती लड़की को ही उसमें फेंक देगा, तो भी छप्पर जल जायगा। भगवान् का नाम अन्य नामों की भाँति निरर्थक कभी नहीं हो सकता। वह अमोघ है, अपना प्रभाव दिखावेगा ही। मिश्री की डली है उसे दिन में खाइये तो भी मीठी, रात्रि में खाइये तो भी मीठी, उजाले में खाइये तो भी मीठी, अँधेरे में खाइये तो भी मीठी।"

इस पर शौनकजी बोले—"नहीं, सूतजी! यह बात नहीं। जिनकी पित्त के रोग से रसना दूषित हो गयी है, वे चाहें मिश्री को उजाले में खायँ या अँधेरे में उन्हें मीठी लगती ही नहीं।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"भगवन्! यह आप कैसी बात कह रहे हैं। मिश्री का मिठास तो जाता नहीं, रोग के कारण जिह्वा स्वाद चला जाता है, वहाँ भी मिश्री खाना व्यर्थ नहीं

होता। आयुर्वेद के पित्त शमन की एकमात्र औषधि मिश्री ही है। एक डली खाते रहें, मीठी न लगे भी औषधि रूप में सेवन करने से रोग भी चला जायगा और फिर मिश्री के मिठास का भी अनुभव होने लगेगा। उसका सेवन व्यर्थ न जायगा, इसी प्रकार पूर्व जन्म के पापों के कारण जिनका भगवन्नाम में अनुराग नहीं होता, अच्छा नहीं लगता। उन्हें बलपूर्वक नाम संकीर्तन में नियुक्त करना चाहिये। अनिच्छा से नाम संकीर्तन करते-करते उसके पाप कटेंगे। पाप कटने से अन्तःकरण शुद्ध होगा। शुद्ध अन्तःकरण होने से भगवान् के नामों में अनुराग बढ़ेगा। आप नाम को नामी से भिन्न न समझें। जो शक्ति नामी में है वही नाम में है। यही नहीं नामी से बढ़कर शक्ति नाम में है। एक राजा है चारों ओर उसका बड़ा नाम है, लोग उसके नाम से थर-थर कापते हैं। नदी पर जाकर जो भी कह देता है मैं उस राजा का सेवक हूँ राजकर्मचारी हूँ, उसे डरकर मल्लाह पार उतार देते हैं। पैसा भी नहीं माँगते। एक दिन राजा स्वयं वेष बदलकर जाता है। मल्लाहों से कहता है—"हमें पार उतार दो।" मल्लाह कहते हैं—"पैसा दोगे तो उतारेंगे नहीं अपना रास्ता पकड़ो राजा बहुत अनुनय विनय करता है किन्तु लोगों के हृदय में दया कहाँ। कोई राज कर्मचारी धीरे से किसी के कान में राजा का नाम बता देता है। नाम सुनते ही सब दौड़ते हैं, कोई पैर पड़ता है, कोई नौका लाता है, कोई बिस्तर बिछाता है। अब सोचिये! नामी राजा सम्मुख खड़ा था। उसकी बात किसी ने सुनी नहीं। जहाँ नाम सुना वहीं उसका महत्व बढ़ गया। नामी को नाम ही प्रकाशित करता है।"

इस पर शौनकजी बोले—"हाँ, तो सूतजी! फिर क्या-क्या हुआ?"

सूतजी ने कहा—"हाँ, तो मुनिवर! मेरे गुरुदेव महाराज परीक्षित् को कथा सुनाते हुए कहने लगे—"राजन्! इस प्रकार उस बूढ़े और बुढ़िया वेश्या दोनों का उस नारायण नामक बच्चे में चित्त फँस गया। अजामिल तो उस बच्चे के मोह में तन्मय ही हो गया। इस प्रकार के लालन-पालन और प्रेम व्यवहार में लगे हुए उस अज्ञानी ने अपना मृत्युकाल उपस्थित होने पर भी उससे मन को नहीं हटाया। वह सबको भूल गया, किन्तु नारायण का नाम उसकी जिह्वा पर बना ही रहा।"

काल की गति तो दुर्निवार है। मृत्यु का पता नहीं कब आकर छाती पर सवार हो जाय। अजामिल का नारायण अभी चार वर्ष का भी नहीं हुआ था, कि अजामिल की मृत्यु का समय आ उपस्थित हुआ। जीवन भर पाप किये थे, न जाने कितनी हिंसायें की थीं, माता-पिता, निरपराध सती साध्वी कुलीन वंशप्रसूता पत्नी का पापमति होकर परित्याग किया था। इन सब पापों के कारण हाथ में कारे-कारे भुसुंड पाश और गदा लिये हुए यमदूत अजामिल को बाँधने के लिये आ गये। उनके लाल-लाल कड़े, ऊँचे उठे भयानक बाल, काला-काला डरावना मुख था, उसमें बड़ी-बड़ी तीक्ष्ण दाढ़ें थीं। श्यामवर्ण के मोटे ओठ थे। पर्वत की कंदरा के समान भयंकर मुख था। गोल-गोल डरावनी चमकीली आँखें थीं। वे इतने बड़े-बड़े थे, कि कोयले के चलते फिरते पर्वत-शिखर से दिखाई देते थे। संख्या में वे तीन थे उनका सूक्ष्म शरीर था, आकाश में प्रत्यक्ष दाँत पीसते और क्रोध करते हुए दिखाई दे रहे थे। मोटे ओठों को बार-बार जीभ से चाटते हुए वे वक्र दृष्टि से अजामिल को देख रहे थे। ज्योंही वे पास से अजामिल के अंगुष्ठमात्र सूक्ष्म शरीर को बाँधकर चलने लगे, त्यों ही डरकर सम्मुख खेलते हुए अपने पुत्र का नाम

लेकर अजामिल ने अति दीन भाव से उसे पुकारा—"नारायण! नारायण! आओ आओ।"
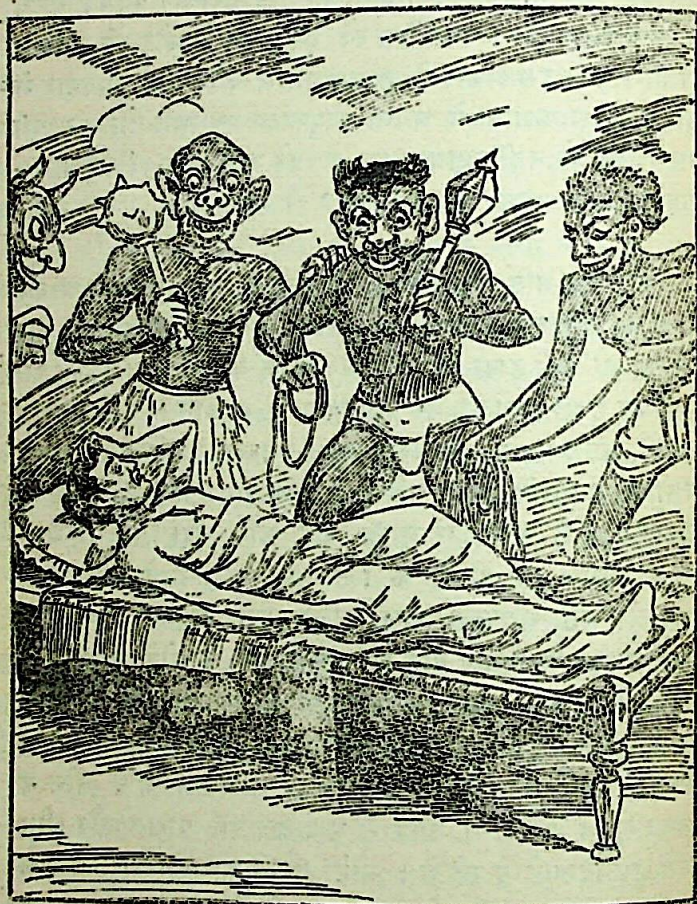
राजन्! आप जानते हैं, भगवान् वासुदेव के बहुत से शंख चक्र, गदा और पद्मधारी पार्षद सदा ब्रह्मांड में घूमते रहते हैं।

कि भगवत् भक्तों को वैष्णवों को कोई कष्ट न दे। उन्होंने जब सहसा सुना कि हमारे स्वामी के नाम का मरते समय कीर्तन करने वाले को यमदूत सता रहे हैं, तो उनसे नहीं रहा गया। वे उन यमदूतों पर ऐसे ही झपटे जैसे चील माँस के टुकड़े पर झपटती है, अथवा बाज पक्षी लवा पर झपटता है। जाते ही उन्होंने यम दूतों को तान के ऐसी गदायें मारी कि वे तिड़ी होकर चारों कोने चित्त होकर लेट गये। सांस तो चलती रही, बाकी सब दुर्गति उन बेचारों की हो गयी।

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! यह तो आप कुछ संसारी अज्ञानी लोगों की सी पक्षपातपूर्ण बातें कर रहे हैं। नाम का माहात्म्य आप कहते हैं—हम स्वीकार करते हैं। मरते समय नाम लेने से उसका कल्याण हो जाता है ठीक है, किन्तु यह क्या बुला रहा है अपने बच्चे को, बीच में विष्णु पार्षद आ धमके। सर्वज्ञ विष्णु के पार्षदों को इतनी भी बुद्धि नहीं कि यह हमारे स्वामी के नाम का कीर्तन नहीं कर रहा है, अपने प्यारे दुलारे मुनमुना से नारायण नामक पुत्र को बुला रहा है, जिसके मोह में इसका चित्त आसक्त है।"

इस पर सूतजी बहुत गम्भीर होकर बोले—"भगवन्! आप इस विषय पर गम्भीरतापूर्वक विचार करें, तब आपको इसका रहस्य मालूम पड़े। देखिये, एक कुत्ता है। कहीं से भूखा प्यासा किसी समर्थ श्रीमान् के द्वार पर आ गया। दयावश स्वामी के सेवकों ने कुछ खाने को दे दिया। पेटभर भोजन पाकर कुत्ता वहीं पड़ा रहा। दूसरा दिन हुआ, कुछ जूठा बचा उसको डाल दिया। नौकरों ने दो चार बार मार पीटकर उसे भगाया भी, नहीं गया पड़ा ही रहा। किसी ने दयावश कह दिया—"अजी तुम्हारा क्या लेता है, जूठा-कूठा टुकड़ा बच जाया करे डाल दिया करो, क्यों मारते हो पड़ा रहने दो।" कुत्ता पड़ा

रहा। गृह स्वामी जब कभी निकलता उसे देखता, कुत्ता पूँछ हिला देता स्वामी चला जाता। उसने न इसे पाला था, न इस ओर उसका ध्यान ही था। कभी दृष्टि पड़ती तो नौकरों से कह देता—"भैया, इस कुत्ते को भी खाने को दे दिया करो।" इस प्रकार उस द्वार पर उसका पेट भरने लगा।

एक दिन वह कुत्ता दूसरे मुहल्ले में चला गया। वहाँ किसी के दूध के वर्तन में उसने मुँह डाल दिया। वह इसे बहुत पीट रहा था। संयोग की बात उधर से उस श्रीमान् के दो सिपाही जा रहे थे। उन्होंने जब देखा कि यह आदमी हमारे कुत्ते को पीट रहा है, तो वे उससे लड़ने को उद्यत हुए। उस आदमी ने कहा—"तुम कहीं के बड़े कुत्ते वाले बन गये हो। इसने हमारा कितना अपराध किया है? दूध को अपवित्र बना दिया।" समर्थ श्रीमान् के सिपाही थे, उन्होंने आव गिना न ताव, दो चार मुक्के घूँसे जमा दिये। लोगों ने दौड़कर श्रीमान् से कहा—"आपके सिपाहियों से लड़ाई हो रही है। उस समर्थ श्रीमान् ने पूछा—"बात क्या थी।"

लोगों ने बताया—"उसने आपके कुत्ते को बहुत मारा था, इसी पर बात बढ़ गई।"

श्रीमान् ने कहा—"मेरा तो भैया कोई कुत्ता नहीं, मैंने तो कभी कुत्ता पाला ही नहीं।"

इस पर दूसरे सेवक ने कहा—"श्रीमान्! वह जो कुत्ता द्वार पर आपके आश्रय में पड़ा रहता था, उसी की ये बातें कह रहे हैं।"

यह सुनकर श्रीमान् गम्भीर हो गये। यद्यपि कुत्ता उनका था नहीं, किन्तु कैसे भी सही उनके नाम के साथ उसका सम्बन्ध जुट गया। अनिच्छा से ही सही सब उसे श्रीमान् का कुत्ता कहने लगे। अब जब उसके सेवकों ने उसे अपना बताकर

लड़ाई झगड़ा कर दिया, तब तो उसे उनका पक्ष लेना ही पड़ेगा। कुत्ते की कोई बात नहीं, कुत्ते को लोग अपराध करने पर मारते ही हैं, लड़ाई झगड़े की भी कोई बात नहीं। नौकर चाकर आपस में लड़ते ही हैं, किन्तु यहाँ तो नाम का प्रश्न है। लोग कहेंगे 'अजी, इतने बड़े आदमी का कुत्ता मारा गया और वे कुछ बोले नहीं।" हमारे नाम का महत्व घट जायगा। बदनामी भी होगी, अपयश भी होगा। इसलिये उसने अपने नौकरों का पक्ष लिया और डाँट कर कहा—"हमारे कुत्ते को मारने वाला कौन होता है, उसे पकड़ लाओ, जेल में भिजवा दो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनिवर, सोचिये, कुत्ता को श्रीमान् ने पाला नहीं, कभी अपना कहा नहीं, वह दूसरों का अपराध करता था, उसके लिये दण्ड देना उपयुक्त ही था, किन्तु समर्थ के नाम से सम्बन्ध हो जाने से उसके अपराध की ओर तो किसी का ध्यान गया नहीं, सब मारने वाले को बुरा भला कहने लगे—"यह तो बड़ी मूर्खता की बात है, इतने बड़े आदमी के कुत्ते को मारना! मान लो दूध में मुँह डाल ही दिया तो क्या हुआ? कुत्ता ही ठहरा, उसे इतनी बुद्धि नहीं, विचार नहीं। इसके लिये इस प्रकार बुरी तरह से उसे मारना उचित नहीं था। सिपाहियों ने ठीक ही किया, उसे उसके किये का तुरन्त फल चखा दिया। अब कोई भी मुहल्ले वाला उस कुत्ते को मारने का साहस न करेगा।" इस प्रकार शौनकजी! बड़ों के नाम का सहारा लेने से बिना स्वीकार किये भी आदमी बहुत से दुःखों से छूट जाता है। विष्णुपार्षद समर्थ थे सब जानते थे, किन्तु उन्होंने सोचा—"हमारे स्वामी का मरते समय नाम लेने वाले की यदि दुर्गति हुई, तो नाम का महत्व ही चला जायगा। कैसे भी सही किसी भी भावना से क्यों न लिया हो उसने चार अक्षरों वाला दिव्य चिन्मय आनन्दमय रसविग्रह "नारायण" यह नाम तो

लिया। हम जानते हैं वह पापी है इसने पाप किये हैं, किन्तु मरते समय इस नाम के लेने वाले के सम्मुख पाप कैसे रह सकते हैं। एक आदमी है। उसने बहुत-सा कूड़ाकरकट बटोर कर घर में भर लिया है। उसमें विश्राम करने को भी स्थान नहीं। अच्छी वस्तु रखने को भी रिक्त स्थान नहीं। मकान सुन्दर है पक्का है, किन्तु घास फूस व्यर्थ की टूटी-फूटी लकड़ियों से भर रहा है। बहुत-सी आवश्यक बहुमूल्य वस्तुएँ बाहर पड़ी हैं। उधर उसका ध्यान नहीं है। एक दिन तम्बाखू पीने को उसने आग जलाई। संयोग से आग उस घास फूस में लग गई। सब व्यर्थ की वस्तुएँ जल कर भस्म हो गईं। दूसरे लोग प्रसन्न हुए। दयावश गृह को झाड़ बहार दिया, पानी से धो दिया। बहुमूल्य वस्तुएँ बाहर से भीतर रख दीं। अब दरिद्र का घर न रह कर श्रीमान् का भवन बन गया। उसने जान बूझ कर घास फूस में आग नहीं लगाई। न आग घास फूस भस्म करने के लिये बनाई थी। उसने तो धूम्रपान करने के निमित्त जलाई थी। आग का स्वभाव है, जहाँ लगेगी कूड़े को भस्म करेगी। इसी प्रकार अजामिल ने पाप किये यह सत्य है भगवान् का नाम भी उसने पुत्र के निमित्त लिया, यह भी सत्य है, किन्तु नाम का माहात्म्य, नारायण शब्द का भाव कहाँ जायगा ? पापों का नाश तो होगा ही।"

इस पर शौनकजी बोले—"महाभाग, आपने जो यह समर्थ श्रीमान् और कुत्ते का दृष्टान्त दिया यह तो प्राकृतिक पुरुष की पक्षपातपूर्ण बातें हैं। भगवान् तो सर्व समर्थ, सर्वज्ञ, सर्ववित् न्याय और सत्य से युक्त निराकार, निर्गुण, निर्लेप हैं। वे ऐसा असत्य पक्षपात क्यों करने लगे। वे अपने मिथ्या नाम लेने वाले के प्रति ममत्व क्यों दिखाने लगे।"

यह सुनकर सूतजी हँसते हुए बोले—"भगवन् ! गुड़

गोबर एक में न मिलाइये। मैं यहाँ निर्गुण निराकार ब्रह्म की बातें नहीं बता रहा हूँ। यहाँ तो सगुण साकार वैकुण्ठाधिपति चतुर्भुज लक्ष्मीपति श्रीमन्नारायण की अनुकम्पा का, दयालुता का वर्णन कर रहा हूँ। उन भक्तवत्सल भगवान् का अपने शरणागत भृत्यों के प्रति पक्षपात होता ही है। इसे हम अस्वीकार नहीं कर सकते। उन्हें अपने नाम लेनेवाले के प्रति ममता होती ही है, फिर चाहे वह नाम कैसे--भी किसी भाव से भी--लिया जाय। हमारे सगुण साकार लक्ष्मीपति शेषशायी कमलाकान्त हैं। उनमें पक्षपात का दोष आ ही नहीं सकता। क्योंकि जो भी उनके नाम रूप लीला और धाम का आश्रय लेगा, उसका वे उद्धार करेंगे ही, वे न करना भी चाहें, तो रह नहीं सकते, रुक नहीं सकते। यह उनका विरद है, बाना है, भेष हैं।"

यह सुनकर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आपने ठीक कहा। कौन जीव मन से उन अनन्त गुण धाम प्रकृति से परे रहने वाले प्रभु का ध्यान कीर्तन कर सकता है। सभी बेमन से ही करते हैं, हम लोग मुख से तो "श्रीमन्नारायण नारायण नारायण कहते-रहते हैं। चित्त इधर-उधर घूमता रहता है। यदि बिना मन के करने का कुछ भी प्रभाव न हो, तब तो जप, तप, कीर्तन कथा, सभी व्यर्थ हैं, क्योंकि पहिले पहिल मन किसी का लगता ही नहीं। सुनते-सुनते करते-करते जब प्रभु कृपा करते हैं, तो मन लगने लगता है। भगवान् स्वयं अनुग्रह न करें, तो जीव की स्वयं क्या सामर्थ है, कि उनके नाम, गुण, लीला धाम तथा रूप का चिन्तन कर सके? हम लोग भी तो बेमन ही से राम-राम कहते हैं, किन्तु जिसका नाम है उसे अपने नाम की लाज है, बेमन से कहने वाले पर भी कृपा करते हैं। यदि पुत्र के बहाने ही सही नारायण नाम लेने पर अजामिल पर कृपा की, उसकी विष्णुदूतों ने यमदूतों से रक्षा की, सो ठीक ही किया। यही उन्हें करना

चाहिये था। कृपा न करते, उसे दुःख से न छुड़ाते तो यही अनुचित कहा जा सकता था। हाँ, तो अब आगे क्या हुआ। इस आख्यान को पूरा सुनाइये।"

यह सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले—"महाराज! मैं सब समझ रहा था, कि आपको तो भगवन्नाम के माहात्म्य में उसके प्रभाव के विषय में कोई शङ्का होने की ही नहीं। आप सर्व साधारण लोगों के निमित्त ये प्रश्न पूछ रहे हैं। अच्छी बात है, अब आगे आप अजामिल का अनुपम आख्यान श्रवण कीजिये।"

छप्पय

नारायणमहँ चित्त फँस्यो नारायण नित दिन।
सेवे प्रान समान रहे छिन हू नहिं वा बिन॥
वेश्यापति यों फँस्यो मोह महँ मृत्यु बिसारी।
परि निरबार कराल काल की आई बारी॥
मृत्यु समय यम किंकरनि, पकर्यो पापी अजामिल।
नारायण मुख तें कह्यो, खेलत सुत कूँ लखि विकल॥

इसके आगे की कथा अगले खंड में पढ़िये।

भागवती कथा

पर

मध्यप्रान्त तथा बरार सरकार के प्रधानमंत्री

माननीय पं० रविशंकर जी शुक्ल

की

शुभ सम्मति

मैंने भागवती कथा के दोनों भाग ध्यानपूर्वक देखे
श्रीयुत् प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी ने धर्म के मूल सिद्धांत
प्रसंगों एवं कथाओं के रूप में स्पष्ट कर हिन्दी सा
एक नवीन शैली को प्रश्रय दिया है। वर्तमान युग में
संस्कृति के प्रति जो उपेक्षा होती जा रही है, उसे दूर
'भागवती कथा' विशेष रूप से सहायक होगी। इ
शैली सरल और मनोरञ्जक है। मुझे आशा है
श्री ब्रह्मचारीजी इस प्रकार के साहित्य से
हिन्दी को अधिक समृद्धिशाली
बनायेंगे।

नाग

१३-